जैन भारती

वर्ष 54 • अंक 6 • जून, 2006

With best compliments from :

Whenever You Drink

C.T.C., ORTHODOX & GREEN TEA

Think of us

Kokrajhar Tea Estate
Chikonmati Tea Estate
Daloabari Tea Estate
Banglabari Tea Estate

BIJNI DOOARS TEA COMPANY LIMITED
EASTERN DOOARS TEA COMPANY LIMITED

SHANTINIKETAN, 4th Floor
8, Camac Street, KOLKATA 700017

Consultants, Financiers & Agents :

M/S PANCHIRAM NAHATA
177, Mahatma Gandhi Road, Kolkata 700007

ACHARYA SRI KAILASSAGARSURI GYANMANDIR
SRI MAHAVIR JAIN ARADHANA KENDRA
Koba, Gandhinagar-382 009.
Phone : (079) 23276252, 23276204-05

शुभू पटवा
मानद संपादक
●
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 54 ● जून, 2006 ● अंक 6

प्रसंग

5
शुभू पटवा
श्रद्धा : समर्पण

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
सत्य : दार्शनिक दृष्टिकोण

13
प्रो. कल्याणमल लोढ़ा
पुनर्जन्म : एक विवेचन

20
समणी मंगलप्रज्ञा
आचार मीमांसा : एक विमर्श

अनुभूति

27
युवाचार्यश्री महाश्रमण
तस्माद् भूयो भद्रम्

30
मकरंद दवे
भूलै को घर लावै

34
समणी सत्यप्रज्ञा
परिधि नहीं; सर्वत्र केंद्र

37
समणी कुसुमप्रज्ञा
सज्झायम्मि रओ सया

40
कहानी
मोहन राकेश
एक घटना

44
कविता
हरीश भादानी की कविताएँ

शीलन

47
मुनि किशनलाल
कषायमुक्ति : चित्तशुद्धि

49
साध्वी अनुशासनाश्री
प्रतिनियतार्थ ग्रहणमिन्द्रियम्

52
बालकथा
रमेन्द्रकुमार
डाहलिया और गुलदाउदी

●
आवरण
अडिग

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर ● फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये ● त्रैवार्षिक 500/- रुपये ● दसवर्षीय 1500/- रुपये

तुम धन्य हो

अपनी महिमा बढ़ाने के लिए जो छल-कपटपूर्वक बोलते हैं, उनकी पहिचान के लिए स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—किसी ने बेला किया। वह अपने बेले की महिमा बढ़ाने के लिए उपवास करने वाले का गुणानुवाद करता है—'तू धन्य है! सो इस भयंकर गर्मी की मौसम में तूने उपवास किया है।'

तब उपवास करने वाला बोला—'मैंने तो उपवास ही किया है, पर तुमने बेला किया है, तुम धन्य हो।'

इस प्रकार छलनापूर्ण वचन के द्वारा अपने बेले की महिमा बढ़ाना चाहता है, उसे अभिमानी और अहंकारी जानना चाहिए।

बेचारे का जन्म बिगड़ जाता है

किसी साहूकार ने मृत्यु-भोज किया। उसने अनेक गांवों को न्योता दिया। लोगों के भोजन करते समय कुछ सामग्री कम हो गई। दूसरे गांवों से जो आए थे, उन्होंने थोड़ी देर भोजन नहीं किया और कहा—'बड़े मृत्यु-भोजों में ऐसे ही होता आया है। कभी घट जाता है, कभी बढ़ जाता है।' उन्होंने फिर कहा—'घड़ी-दो घड़ी बाद भोजन कर लेंगे, कोई खास बात नहीं।'

एक आदमी उस साहूकार का विरोधी था। वह बाजार में आ, गद्दे पर लेट गया और कहने लगा—'मृत्यु-भोज बिगड़ गया रे, बिगड़ गया।'

तब किसी ने पूछा—'इस भोज की प्रारंभिक सामग्री जुटाने में तो तुम भी साथ रहे होगे, फिर वह सामग्री घटी क्यों?'

तब वह बोला—'नहीं साह! मुझे पूछा भी कब था? यदि मुझे पूछा होता, तो सामग्री कम ही क्यों होती और भोज बिगड़ता ही क्यों?'

फिर उससे पूछा गया—'तुमने भोजन किया या नहीं?'

तब बोला—'मैंने तो खूब डट कर खाया है। मैं तो पहले ही जानता था कि इसके सामग्री कम हो जाएगी।'

अब स्वामीजी बोले—'ऐसे कुपात्र पुरुषों का पोषण करने से भोज क्या बिगड़ता है, बेचारे भोज करने वाले का जन्म भी बिगड़ जाता है।'

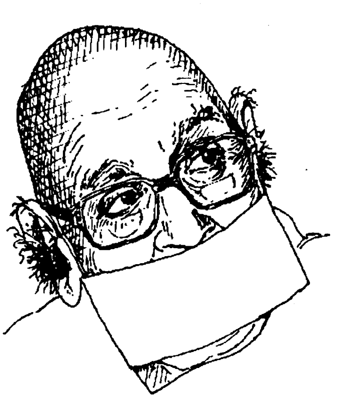

हम सुविधा के लिए चरित्र को वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय—इस प्रकार विभक्त करते हैं। पर, सही अर्थ में वह है अविभक्त। चरित्र-पतन का परिणाम अपने पर भी होता है, समाज पर भी और राष्ट्र पर भी। इसी प्रकार चरित्र-विकास का परिणाम भी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र—इन सभी पर होता है।

बहुत लोग ऐसे हैं, जो अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए समाज और राष्ट्र का अहित करने में तनिक भी नहीं सकुचाते। उनमें राष्ट्रीय भावना भरना अस्थाई इलाज हो सकता है और राष्ट्रवादी कट्टरता का खतरा भी उसमें निहित है। आध्यात्मिक भावना भरना सर्वथा निरापद है और वह स्थाई प्रतिकार है। सबको समान समझने वाला किसी के प्रति अन्याय नहीं कर सकता। आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर विकसित होने वाला वैयक्तिक दृष्टिकोण ही वस्तुतः सामुदायिक दृष्टिकोण होता है।

—आचार्यश्री तुलसी

इस संसार में समय-समय पर ऐसे महापुरुष अवतरित होते रहे हैं, जो युग को दिशादर्शन देते हैं। ऐसे महान संतों के आगमन से मानवीय मूल्यों को पोषण मिलता है। आचार्यवर 85 वर्ष पूर्ण कर 86वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। इस अवस्था में भी इतनी स्वस्थता और सक्रियता कैसे संभव है? इस संदर्भ में मैंने चिंतन किया तो मुझे लगा कि इसका एक बड़ा कारण व्यक्ति का अपना भाग्य और सातावेदनीय का उदय होता है। दूसरा कारण बनता है—जीवनशैली। जब हम आचार्यवर की जीवनशैली को देखते हैं तो लगता है कि आहार का विवेक, आसन और प्राणायाम का नियमित प्रयोग, विधायक सोच, समय पर सोना, समय पर जागना और समयबद्ध होकर सारे काम करना आदि कुछ ऐसी बातें हैं, जो आचार्यवर की स्वस्थता और सक्रियता का मूल कारण हैं। इसी तरह आवेश पर नियंत्रण भी स्वास्थ्य को अच्छा बनाए रखने में बड़ा निमित्त बनता है। आचार्यवर की स्वस्थता और सक्रियता आचार्यवर का नहीं, हम सबका और संपूर्ण मानव-जाति का सौभाग्य है। यह सौभाग्य लंबे समय तक बना रहे, यही हमारी भावना है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के जन्मोत्सव आषाढ़ कृष्णा तेरस (4 अप्रैल, 2005) को व्यक्त उद्गार

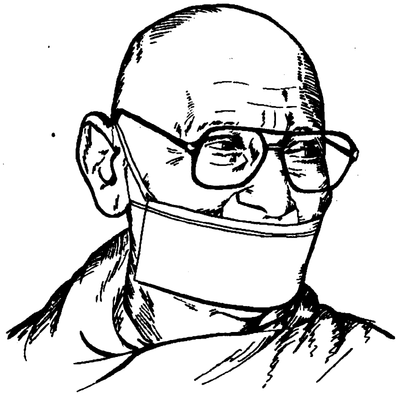

अहिंसा का अध्ययन प्राचीनकाल से ही चला आ रहा है। हजारों-हजारों वर्षों से उसकी चर्चा और अनुशीलन हो रहा है। अहिंसा की समग्रता को जानने के लिए पहले शास्त्र पढ़े जाते रहे हैं। अहिंसा का अर्थ इतना ही नहीं है कि किसी जीव को मत मारो। उसका अर्थ यह भी है कि मारने की स्थिति भी पैदा मत करो। ऐसा वातावरण मत बनाओ, जिससे जीव मर जाए। ऐसी परिस्थितियां भी पैदा मत करो, जिससे अजीव भी अस्त-व्यस्त हो जाए। अहिंसा के साथ जितना जीव जुड़ा है, उतना ही अजीव जुड़ा है। एक व्यक्ति क्रोध में आया और उसने पत्थर उठाकर फेंक दिया। कोई प्राणी नहीं मरा, परंतु हिंसा तो वह है ही।

भगवान महावीर ने प्रत्येक घटना के साथ वातावरण और निमित्त को जोड़ा। इसे निमित्तविज्ञान भी कहा जा सकता है। निमित्तों को नष्ट मत करो। किसी जीव को मत मारो, इस निर्देश के साथ-साथ यह भी कहा कि जीव की उत्पादक शक्ति को भी नष्ट मत करो। चाहे जीव निर्जीव ही है, फिर भी उसे नष्ट मत करो। इस बात पर बहुत सूक्ष्मता से विचार किया गया—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुद्गल और पुद्गल परिणाम—ये सब परिवर्तन के निमित्त बनते हैं। अहिंसा का सिद्धांत केवल न मारने से ही नहीं जुड़ा है, निमित्तों से भी जुड़ा हुआ है। यह निमित्त-विज्ञान का अध्ययन ही पर्यावरण विज्ञान है।

आज पर्यावरण-विज्ञान सारे विश्व को प्रभावित कर रहा है। उसका मूल सिद्धांत यह है कि जीव और पदार्थ एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

श्रद्धा : समर्पण

दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, न श्रद्धा के अभाव में समर्पण संभव है और न समर्पण के बिना श्रद्धा कभी उपज सकती है। हमारी परंपरा और संस्कृति का यह एक अनमोल और अनूठा हिस्सा है। कहा जा सकता है कि भारतीय मानस की वास्तविक पहिचान श्रद्धा और समर्पण में ही निहित है। संतान अपने माता-पिता के प्रति और शिष्य अपने गुरु के प्रति जितने श्रद्धानत और समर्पित रहते आए हैं—अन्यत्र ऐसा विरल है। यह रहते हुए जैसी सहजता और जो सरलता उनमें नजर आती है, वह भी सामान्यतः विरल है। कहा जा सकता है कि सहजता और सरलता जहां है—वहीं श्रद्धा और समर्पण टिके रह सकते हैं, अन्यथा दैनंदिन जीवन का ये हिस्सा नहीं बन सकते। और, जब तक यह दैनंदिन जीवन का हिस्सा नहीं हो जाते तब तक इनकी कोई सार्थक परिणति प्रकट नहीं हो सकती।

कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो अपने जीवन में कुछ सार्थक करना न चाहता हो? हर व्यक्ति की चाह कुछ ऐसा करने की होती है, जो उदाहरण की तरह किसी के सम्मुख रखी जा सके। हर व्यक्ति अपनी क्षमता-भर पुरुषार्थ करता है कि अपना लक्ष्य हासिल कर सके। उद्देश्य या लक्ष्य किसी भी स्तर का हो, उसकी प्राप्ति के लिए जहां पुरुषार्थ जरूरी है, वहीं उस माध्यम के प्रति श्रद्धा और समर्पण का होना भी आवश्यक है जो उसे उस लक्ष्य या उद्देश्य तक पहुंचाता है।

हमारे सम्मुख ऐसा ही एक व्यक्तित्व उपस्थित है, जिनकी श्रद्धा और समर्पण आज अतुलनीय है। जिनका मानना है कि इसी श्रद्धा और समर्पण ने ही उनको वह स्थान दिया है, जहां वे आज आरूढ़ हैं। ये हैं आचार्यश्री महाप्रज्ञजी—भारतीय मनीषा के जीवंत प्रतिरूप। तेरापंथ संघ के दसवें अधिष्ठाता और पिछली शताब्दी में धर्म-क्रांति के अग्रणी प्रचेता आचार्यश्री तुलसी के उत्तराधिकारी। दोनों कहते रहे हैं—'तुलसी में महाप्रज्ञ को देखो; महाप्रज्ञ में तुलसी को देखो'—दो, लेकिन एक, अद्वैत। कहीं कोई द्वैत नहीं, सर्वथा अद्वैत। श्रद्धा और समर्पण की एक ऐसी मिसाल जो शायद अन्यत्र दुर्लभ हो। यदि कहीं नजर जाती भी है तो बस रामकृष्ण परमहंस व स्वामी विवेकानंद पर ही वह टिकती है, अन्यथा दुर्लभ।

गुरु और शिष्य, तुलसी और महाप्रज्ञ—दोनों के बीच अद्वैत का ऐसा अटूट रिश्ता कि कहना कठिन कि यह श्रद्धा और समर्पण किसके प्रति है? शिष्य का श्रद्धा और समर्पण तो स्वाभाविक है, पर क्या गुरु का भी संभव है? बहुत बारीक नजर से गौर करें, तुलसी और

नथमल (महाप्रज्ञजी) की जीवनचर्या पर—हम पाएंगे कि जैसे दोनों ही एक-दूसरे के प्रति समर्पित हैं, श्रद्धानत हैं। हां! गुरु भी अपने शिष्य के प्रति, क्योंकि वह उसीकी कृति है, उसकी छवि, प्रतिरूप, प्रतिबिंब। तुलसी और महाप्रज्ञ का जीवन ऐसा ही लगता है। और यही विरल है।

बचपन को पार कर किशोरवय पर कदम रखते-रखते मुनि तुलसी का वरदहस्त ऐसा साया बना कि उसकी छाया का वास आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को आज भी अभिभूत करता है, रोमांचित करता है। इसी 23 जून (आषाढ़ कृष्णा तेरस) को आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अपने आभामय जीवन के सतासी वर्ष पूरे कर रहे हैं और इसी आषाढ़ कृष्णा तीज (14 जून) को आचार्यश्री तुलसी के महाप्रयाण के दस वर्ष पूरे हो रहे हैं। बीते दशक में शायद ही ऐसा कोई क्षण आया हो जब तुलसी और महाप्रज्ञ में किसी को द्वैत नजर आया हो। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का कोई सार्वजनिक प्रवचन शायद ही ऐसा रहा हो जिसमें आचार्यश्री तुलसी का स्मरण न हुआ हो, उनका कोई प्रेरक पाथेय नूतन अर्थवत्ता के साथ आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने उद्धृत न किया हो। आज आचार्यश्री महाप्रज्ञजी स्वयं एक अनुकरणीय व्यक्तित्व हैं, पर आज भी एक जिज्ञासु शिष्य की तरह वे अपने गुरु का स्मरण जब करते हैं तब उनकी श्रद्धा और समर्पण श्लाघ्य तो लगते ही हैं, क्या उसमें से टपक रही सहजता व सरलता में आलोड़ित होने का मन नहीं होता किसी का? यही तो विरल है। और, यह जो विरल है, उसे पाना इसलिए सरल है कि इस इक्कीसवीं सदी का यह महापुरुष हमारे लिए सहज सुलभ है। इस महापुरुष की सहजता-सरलता, श्रद्धा-समर्पण इस पीढ़ी में नव-स्फुरणा का संचार कर सकती है।

हम अपनी आज की पीढ़ी पर गौर करें। जिस तरह के अवसादों से यह पीढ़ी संत्रस्त है, उसकी बुनियाद में निर्मल श्रद्धा और निष्काम समर्पण का ही अभाव है। इसे दूर करने की जरूरत है। क्योंकि एक सुदृढ़ समाज के निर्माण के लिए जैसी आधारभूत परिस्थितियां चाहिए, वह इसी से संभव हैं। ऐसा नहीं कि आज की पीढ़ी यह सब जानती-समझती न हो, पर उसका मार्ग वह नहीं है जिसकी चर्चा हमने यहां इन पन्नों पर की है। हम पाते हैं कि श्रद्धा और समर्पण आज की पीढ़ी में भी हैं, पर वे 'साक्षात्' में न होकर 'अदृश्य' में कहीं अधिक हैं। उनमें 'चमत्कार' अधिक और 'विचारशीलता' नगण्य है। इसीलिए अनेक तरह की 'विभूतियां' और 'शक्तियां' उघड़ती जा रही हैं। उनमें जो नजर आता है वह निरा अंध-विश्वास है, श्रद्धा और समर्पण कतई नहीं। अंध-विश्वास या अंध-आस्था व्यक्ति को कूपमंडूक ही बनाते हैं। वहां संवाद की संभावना सिरे से ही गायब रहती है। वहां जो भी होता है, सब एक-तरफा होता है। सांझापन के लिए कोई जगह नहीं होती वहां। समाज इससे नहीं बनता। इससे जो बनता है वह 'बीमार' कुनबा होता है, जिनके आधार रेत के मस्तूल होते हैं। आज की पीढ़ी को ऐसी श्रद्धा और समर्पण के बोध से बचाने की जरूरत है।

इसीलिए यह जरूरी है कि यह पीढ़ी 'तुलसी' और 'महाप्रज्ञ' को देखे। इनके कालखंड की धाराओं में निमग्न हो। वह वर्ग, जो इस धारा में निमज्जित है, उसका यह कर्तव्य बनता है कि वह अपनी सहोदर पीढ़ी को इस ओर अग्रसर करने में सहायक बने। यह भूमिका यद्यपि आसान नहीं, पर दुःसाध्य भी नहीं है। प्रश्न केवल इच्छाशक्ति का है, अपना लक्ष्य बनाने का, अपना उद्देश्य तय करने का। और यह संभव है—यदि 'तुलसी'-सी श्रद्धा और समर्पण अपने सहोदरों के प्रति पैदा हो जाए।

हमने कहा कि शिष्य के प्रति भी गुरु का समर्पण और श्रद्धा यदि देखनी हो तो 'तुलसी' में देखी जा सकती है। क्या किसी मां का समर्पण अपनी संतान के प्रति हमने नहीं देखा? कुछ भी करते हुए मां कभी संताप-ग्रस्त नहीं होती। ऐसा ही समर्पण तुलसी में अपने शिष्यों के प्रति रहा और इसीलिए एक सुगठित-सुघड़ संगठन के अधिष्ठाता पद से स्वेच्छा से मुक्त होते हुए वे अनकथ आह्लाद से भरे थे। आत्मसंतुष्टि का जो अकूत वैभव उनके आभामंडल पर तब अंकित था, वह तो विरल था ही, पर गुरु के समर्पण के आगे समूचा शिष्य-समुदाय श्रद्धानत हो जिस 'गणाधिपति' की कल्पना को साकार कर रहा था—वह भी विरल ही तो था।

यही पाठ आज की पीढ़ी को पढ़ाने और हृदयंगम कराने का अनुपम वातावरण बनाने की जरूरत है। आषाढ़ का महीना यह अवसर हमें देता है; जब एक मनीषी का पावन जन्मोत्सव होता है और एक महामना का महाप्रयाण।

आषाढ़ की यही अलौकिकता हमारे लिए उत्प्रेरक बने; इन दो अवसरों का यही अभीष्ट हो सकता है।

—शुभू पटवा

विमर्श

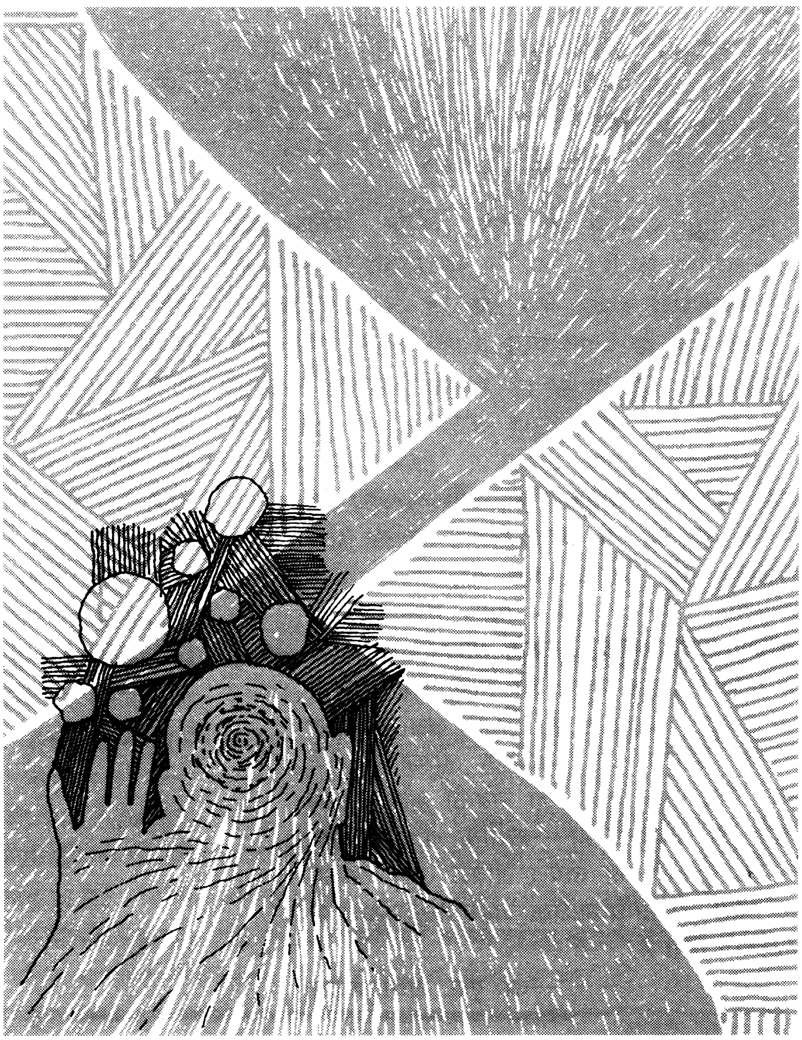

दर्शन का विज्ञान से भेद-प्रदर्शन के द्वारा निरूपण एक महत्त्वपूर्ण बिंदु को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है : और वह यह कि विज्ञान दर्शन नहीं है और दर्शन विज्ञान नहीं है। विज्ञान और दर्शन, दोनों, एक-दूसरे पर आश्रित नहीं हैं और इनमें से किसी को दूसरे में नहीं घटाया जा सकता। दर्शन न तो विज्ञान की अविकसित अवस्था या भ्रूणावस्था है और न दास ही है। 'वैज्ञानिक दर्शन' यह पद अपने-आप में असंगत प्रयोग है। जो लोग विज्ञान की विधि या कसौटी को दर्शन पर लागू करना चाहते हैं, अथवा जो दर्शन को सब विज्ञानों के आधार-विज्ञान के रूप में एक तार्किक व्यवस्था बनाना चाहते हैं, उनका असफल होना पूर्वनिश्चित है। दार्शनिक व्यवस्थाएं बौद्धिक अंतर्दृष्टियां हैं, जिनका मूल समग्र मानवीय अनुभव को एक युक्त वैचारिक व्यवस्था देने की प्रेरणा में होता है। अब, कुछ लोगों को ऐसी आवश्यकता अनुभव नहीं होती और वे व्याख्या के वैज्ञानिक रूप से ही संतुष्ट हो जाते हैं। किंतु तब क्या उनका यह दावा उचित कहा जा सकता है कि उनके लिए संतोषजनक स्थिति सबके लिए पर्याप्त है और कि दार्शनिक विचार केवल औंधी खोपड़ी की उपज होते हैं? यदि दार्शनिक अंतर्दृष्टियां वैज्ञानिक स्वभाव के व्यक्ति के लिए असंगत निरर्थकताएं मात्र हैं तब क्या दार्शनिक स्वभाव के व्यक्ति के लिए वैज्ञानिक अन्वेषण भावना-शून्य जड़ता मात्र नहीं है? दार्शनिक अपनी अन्वीक्षाओं (स्पैकूलेशंस) का इस कारण अनुसंधान करता है, क्योंकि वह बौद्धिक कुतूहल से प्रेरित होता है, प्रकृति पर नियंत्रण के प्रयोजन से नहीं। वास्तव में दर्शन यदि अपना लक्ष्य व्यावहारिक उपयोग को बना ले तो वह नष्ट हो जाए।

—जॉन डी लुक्का

जिसने सापेक्षता का प्रयोग किया, वह पुरस्कृत हो गया। नग्न सत्य भी काम का नहीं होता, असत्य भी काम का नहीं होता। सापेक्षता से हमारा व्यवहार चलता है, उससे सचाई का पता चलता है। यह सापेक्ष दृष्टिकोण है कि द्रव्य पर्याय से सापेक्ष और पर्याय द्रव्य से सापेक्ष। दोनों का जहां योग होता है, वह सापेक्षता है। द्रव्य के बिना पर्याय का निरूपण करना और पर्याय के बिना द्रव्य का प्रतिपादन करना अयथार्थ है। द्रव्य और पर्याय यानी मूल तत्त्व और परिवर्तन, दोनों को एक साथ दिखा देना—यह सापेक्षता है। जैन दर्शन ने सापेक्ष दृष्टि का विकास किया। यह दृष्टिकोण बहुत महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण है। इसके आधार पर प्रत्येक द्रव्य को जुड़ा हुआ जाना जा सकता है।

सत्य : दार्शनिक दृष्टिकोण

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

यह प्रश्न लंबे समय से पूछा जाता रहा है कि सत्य क्या है। दर्शन के प्रत्येक क्षेत्र में इस पर विचार किया गया और इसका समाधान देने का प्रयत्न भी किया गया। जैन दर्शन ने भी इस पर विचार किया और सत्य को देखने की दृष्टियां दीं। प्रश्न है—क्या मिट्टी सत्य है, या घड़ा सत्य है? प्रश्न है कि क्या रुई सत्य है, या कपड़ा सत्य है? रुई से कपड़ा बनता है। रुई का अस्तित्व मिट जाता है, कपड़ा अस्तित्व में आ जाता है। मिट्टी मिटती है, घड़ा बनता है। सत्य क्या है? रुई सत्य या कपड़ा सत्य? मिट्टी सत्य या घड़ा सत्य? इस सत्य को समझने के लिए दृष्टिकोण चाहिए। जब तक दृष्टिकोण सही नहीं हो जाता, तब तक समझा नहीं जा सकता। आज जो कपड़ा है, उसे पहना गया। वह पुराना होगा और एक दिन फट जाएगा, कपड़ा भी समाप्त हो जाएगा। इसी तरह घड़ा भी फूट जाएगा, समाप्त हो जाएगा। कपड़ा कहां गया? घड़ा कहां गया? क्या सदा के लिए समाप्त हो गए? क्या सब-कुछ समाप्त हो गया?

महाप्रज्ञ जन्मोत्सव विशेष

जैन दर्शन का मत है कि दो दृष्टियों से देखो। एक दृष्टि का नाम है—द्रव्यार्थिक दृष्टि और दूसरी का नाम है—पर्यायार्थिक दृष्टि। एक दृष्टि का नाम है—निश्चय दृष्टि और दूसरी दृष्टि का नाम है—व्यवहार दृष्टि। द्रव्य की दृष्टि से देखो और पर्याय की दृष्टि से भी देखो। दोनों दृष्टियों से सत्य को देखें तो सत्य का पता चलेगा। एक दृष्टि से देखेंगे तो सत्य का पता नहीं चल पाएगा। मिट्टी थी, घड़ा बना। घड़ा भी फूट गया। पर, परमाणु समाप्त नहीं हुआ। मिट्टी भी परमाणु से ही बनी। घड़ा भी परमाणु से बना। मिट्टी भी एक अवस्था है। घड़ा भी एक अवस्था है। दोनों मिट गए। पर, परमाणु नहीं मिटा।

जैन दर्शन ने एक सिद्धांत दिया कि इस जगत में जितने तत्त्व हैं, उतने ही रहेंगे। उतने ही थे। एक भी परमाणु, एक भी तत्त्व न तो नया पैदा होगा और न जो है, वह नष्ट होगा। जितने हैं, उतने ही रहेंगे। न कोई नया जन्मता है और न कोई पुराना मरता है। कुछ भी नहीं होता। जन्म और मृत्यु कुछ नहीं हैं। नया कुछ होता ही नहीं। केवल परिवर्तन, केवल रूपांतरण। हां, यदि हम इस परिवर्तन-भर को ही सत्य मान लेंगे तो वास्तविक सत्य नहीं समझ सकेंगे। यह अधूरा सत्य होगा, पूरा सत्य नहीं होगा। पूरा सत्य तब कहलाएगा कि परमाणु भी सत्य है, मिट्टी भी सत्य है और घड़ा भी सत्य है। अगर घड़े को ही सत्य मान लें तो घड़ा फूटा, सत्य कहां गया?

एक संतरा है, केला है, आम है—सत्य है। सत्य इसलिए कि खाया और तृप्ति मिली। सत्य तो है, पर केवल वही सत्य है, ऐसा नहीं। संतरा खा लिया तो इसका मतलब है कि सत्य को भी खा लिया और सत्य समाप्त हो गया। केला समाप्त हुआ और सत्य भी समाप्त हो गया। आम खाया, आम समाप्त हुआ और सत्य भी समाप्त हो गया। यह सत्य तो है, पर एकांगी सत्य है। अधूरा सत्य है। पूरा सत्य क्या है? केला समाप्त हो सकता है, क्योंकि वह एक अवस्था है। आम समाप्त हो सकता है, संतरा समाप्त हो सकता है, पर परमाणु समाप्त नहीं होता।

गाय को दुहा। दूध निकला। वह गोरस है। दूध में जामन दिया, वह भी गोरस है। दूध मिटा और दही बना। दही क्या है? वह भी गोरस है। दूध से दही बन गया, दूध मिटा, दही बना। पर, गोरस दोनों हैं। दूध भी गोरस और दही भी गोरस। गोरस मिटा। बचा क्या? परमाणु बचे।

एक है—मूल द्रव्य और दूसरा है—मूल द्रव्य में होने वाला परिवर्तन। दोनों को सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। दोनों संयुक्त चलते हैं। वह द्रव्य भी है और उसमें होने वाला परिवर्तन भी है। परिवर्तन सत्य है, यह जानने वाली दृष्टि है—पर्यायार्थिक नय। मूल द्रव्य सत्य है, यह जानने वाली दृष्टि है—द्रव्यार्थिक नय। इन दो दृष्टियों से हम देखते हैं तब हमें पूर्ण सत्य का पता चलता है।

कुछ दार्शनिक हैं, जो केवल द्रव्य को मानते हैं, पर्यायों को नहीं मानते। कुछ दार्शनिक ऐसे हैं, जो केवल पर्यायों को मानते हैं, द्रव्य को नहीं मानते। ये दोनों ही एकांगी दृष्टिकोण हैं। जैन आचार्यों ने इस पर कहा कि अगर ऐसा मानें तो हमारा व्यवहार नहीं चलेगा। हमारे व्यवहार के तीन अंग हैं—प्रवृत्ति, निवृत्ति और उपेक्षा (तटस्थता, मध्यस्थता)।

हमें अच्छा लगता है, उसके लिए हम प्रवृत्ति करते हैं। यानी सुख के लिए प्रवृत्ति करते हैं। दुख से निवृत्ति करते हैं। दुख से दूर होना चाहते हैं। जिस व्यवहार से न सुख मिलता है, न दुख मिलता है, उसमें हम तटस्थ रहते हैं, मध्यस्थ रहते हैं। हमारे व्यवहार के ये तीन अंग हैं। यह व्यवहार परिवर्तन और स्थाई तत्त्व, इन दोनों के आधार पर चलता है। अगर परिवर्तन न हो तो व्यवहार नहीं चलेगा। हमें सुख नहीं मिले तो फिर हम प्रवृत्ति ही क्यों करें? कोई भी आदमी व्यापार करे और धन नहीं मिले, तब वह व्यापार किसलिए करेगा? व्यापार करने वाला इसलिए करता है कि धन मिलेगा।

एक आचार्य ने लिखा, तीन लोग एक स्वर्णकार की दुकान पर गए। इसलिए गए कि एक आदमी को सोने के एक कलश की जरूरत थी और वह सुनार के पास था। दूसरा आदमी इसलिए गया सुनार के पास कि सोने का एक मुकुट बनवाना है। तीसरा इसलिए गया कि उसे सोना खरीदना है। तीन आदमी, तीन इच्छाएं और तीनों एक साथ गए। पहला गया और बोला—स्वर्णकारजी! सोने का कलश चाहिए। दूसरा बोला—मुझे सोने का मुकुट चाहिए। तीसरा बोला—मुझे सोना चाहिए। कलश बना-बनाया था। किंतु मुकुट बना हुआ नहीं था। सोने का कलश है तो भी सोना है। मुकुट बनाए तो भी सोना है। दोनों सोना हैं। स्वर्णकार को लाभ दिखा कि मुकुट बनाऊंगा तो पैदा ज्यादा होगी। उसने कलश को गलाया और मुकुट बनाना शुरू कर दिया। सोने का कलश टूटा और मुकुट बनना शुरू हुआ। तीन जनों की तीन अवस्थाएं। जिसे सोने का कलश चाहिए था, वह सोचने लगा कि बना-बनाया कलश था, यह स्वर्णकार कितनी मूर्खता कर रहा है, कलश को गलाकर मुकुट बना रहा है। मन में क्लेश पैदा हो गया। दूसरा आदमी था, उसके मन में हर्ष पैदा हुआ कि देखो मेरे मन की भावना पूरी हो गई। मुकुट बन रहा है। एक को क्लेश और दूसरे को हर्ष। तीसरे ने कहा—कोई फर्क नहीं पड़ता। चाहे कलश हो, चाहे मुकुट हो—सोना तो सोना ही है। मुझे तो जो मिलेगा, वही ठीक है।

ये तीन प्रकार की मानसिक दशाएं बनीं। अकारण नहीं बनीं, अहेतुक नहीं बनीं। तीनों के पीछे हेतु है। एक अवस्था का विनाश होता है तो शोक होता है। दूसरी अवस्था पैदा होती है तो हर्ष होता है। तीसरी अवस्था बराबर है। सोना सोना है। वह मध्यस्थ है। द्रव्य को, सचाई को देखने की दो दृष्टियां हैं। एक द्रव्य को देखने की, दूसरी परिवर्तन या पर्याय को देखने की। इन दोनों दृष्टियों से सत्य को देखा जाए तो समग्र सत्य को देखा जा सकता है।

जैन दर्शन ने इन दोनों नयों के द्वारा जगत की व्याख्या की, सत्य की व्याख्या की। इसके आधार पर सापेक्षता का विकास हुआ। पर्याय के बिना द्रव्य को नहीं जाना जा सकता और द्रव्य के बिना पर्याय को नहीं जाना जा सकता है। दोनों सापेक्ष होते हैं। वस्तु में दो प्रकार के धर्म होते हैं। एक अखंड वस्तु और एक वस्तु के खंड-खंड। अखंड को जानने की दृष्टि द्रव्य की दृष्टि है। खंड को जानने की दृष्टि पर्याय की दृष्टि है।

एक बच्चा पैदा हुआ। पांच वर्ष का हुआ, शिशु बना। नवजात से जात बना। दस वर्ष का हुआ। किशोर बना। फिर दस वर्ष का और हुआ, युवा बना। सौ वर्ष का आदमी और दस-दस वर्ष की दस अवस्थाएं। पहले दस वर्ष में जीया, दूसरे दस वर्ष में जीया, एक-एक कर अवस्थाएं होती गईं। तब क्या दस वर्ष के बच्चे को और सौ वर्ष के आदमी को एक ही माना जाएगा? एक नहीं माना जा सकता। बुढ़ापे में जो स्थितियां बनीं, वे बचपन में नहीं थीं। जो बचपन में थीं, वे बुढ़ापे में नहीं हैं। हम खंड-खंड करके देखें, टुकड़ों में देखें। एक आदमी को दस वर्ष में देखा और उसी को नब्बे वर्ष में देखते हैं तो पहचान में नहीं आएगा। जब दस वर्ष में देखा था तो केश काले थे। दांत मजबूत थे। चेहरा खिला हुआ था। जब नब्बे वर्ष में देखा तो केश सफेद हो गए या झड़ गए, दांत गिर गए। शरीर में झुर्रियां पड़ गईं। पहचाना ही नहीं जा सकता कि यह वही आदमी है। यह पहचान का अंतर इसीलिए आया कि जो दस वर्ष का था, वह अब नहीं रहा, दूसरा हो गया। पर, दूसरा हो जाने पर भी हम पहचान लेंगे कि यह वही है, जिसे हमने देखा था। जिसके बारे में हमने सुना था। दीपक जलता है। लौ जलती चली जाती है। पहली लौ चली गई। समाप्त हो गई। दूसरी आई, तीसरी आई, चौथी आई। लौ बदलती रहती है। दीया एक जलता है। नदी बह रही है। पानी का पहला प्रवाह आया, चला गया। दूसरा आया और चला गया। प्रवाह नहीं टूटता। पानी बदलता चला जाता है।

नाखून बढ़ते हैं। बढ़ा और काटा। फिर बढ़ा और काटा। बढ़ते जाते हैं, कटते जाते हैं। लगता यही है कि वही नाखून है। प्रवाह चलता चला जाता है। एक है प्रवाह को समझने की दृष्टि और एक है प्रवाह के साथ बदलती धारा की दृष्टि। ये दोनों दृष्टियां एक साथ जुड़ी हुई हैं। जैन दर्शन ने इसके आधार पर सापेक्षवाद का प्रतिपादन किया। जो व्यक्ति सापेक्षता को नहीं समझता, वह सचाई को नहीं समझ पाता। इस मत पर एक दार्शनिक उदाहरण द्रष्टव्य है, जो बड़ा महत्त्वपूर्ण है—

राजा ने चित्रकारों को बुलाया और कहा—चित्र बनाओ। मेरा चित्र बनाओ। जो सबसे बढ़िया चित्र बनाएगा, उसे पुरस्कृत किया जाएगा। चित्रकार आए और देखा। चित्र बनाने की बात सोची। राजा परीक्षा लेता गया। परीक्षा में आखिर तीन चित्रकार ठहरे, शेष सब फेल हो गए। तीनों ने फिर चित्र बनाए। राजा के सामने पहला चित्र आया। राजा ने देखा तो कहा—चित्र तो बहुत सुंदर बना है, पर झूठा बना है। राजा था काना। चित्रकार ने सोचा—अब काना कैसे दिखाऊं? इसलिए दोनों आंखें दिखा दीं। राजा ने कहा—गलत चित्र है, झूठा है। असत्य है। मैं असत्य को पसंद नहीं करता। दूसरा चित्र देखा। चित्र बहुत भव्य था। राजा बोला—चित्र तो ठीक है, पर नग्न सत्य भी मुझे पसंद नहीं है। उस चित्र में राजा को काना दिखाया गया था। उसे अस्वीकार कर दिया। तीसरा चित्र राजा ने देखा और वह मुग्ध हो गया। उसने कहा—कितना बढ़िया चित्र है। चित्रकार ने बड़ी निपुणता के साथ चित्र बनाया है। उसने राजा को शिकार खेलते हुए दिखाया था। हाथ में धनुष। प्रत्यंचा तनी हुई। मुट्ठी बंधी हुई और उसकी ओट में आंख आ गई। न तो कानापन दिखाई देता है और न ही झूठी बात। दोनों नहीं। राजा ने कहा—यह मुझे पसंद है, सबसे बढ़िया है और इसको प्रथम पुरस्कार दिया जाना चाहिए।

जिसने सापेक्षता का प्रयोग किया, वह पुरस्कृत हो गया। नग्न सत्य भी काम का नहीं होता, असत्य भी काम का नहीं होता। सापेक्षता से हमारा व्यवहार चलता है, उससे सचाई का पता चलता है। यह सापेक्ष दृष्टिकोण है कि द्रव्य पर्याय से सापेक्ष और पर्याय द्रव्य से सापेक्ष। दोनों का जहां योग होता है, वह सापेक्षता है। द्रव्य के बिना पर्याय का निरूपण करना और पर्याय के बिना द्रव्य का प्रतिपादन करना अयथार्थ है। द्रव्य और पर्याय यानी मूल तत्त्व और परिवर्तन, दोनों को एक साथ दिखा देना—यह सापेक्षता है। जैन दर्शन ने सापेक्ष दृष्टि का विकास किया। यह दृष्टिकोण बहुत महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण है। इसके आधार पर प्रत्येक द्रव्य को जुड़ा हुआ जाना जा सकता है।

हम किसी एक बात को जानें, जैसे एक कपड़ा है—एक कपड़े को जानना है। क्या आप इस एक कपड़े को जान सकते हैं? नहीं जान सकते। यदि आपमें सापेक्षदृष्टि का विकास नहीं है तो एक कपड़े को नहीं जान सकते। एक कपड़े को जानने के लिए आपको क्या-क्या जानना पड़ेगा? सबसे पहले कहां बना, इसे जानना होगा। समय-काल को जानना होगा। किस व्यक्ति ने बनाया, यह जानना होगा। किस फैक्टरी में बना, यह जानना होगा। जिस आदमी ने बनाया, वह कहां से आया? रुई कहां से आई? रुई किसने पैदा की? किस खेत में पैदा हुई? एक-एक को जानते चलें। सारे संसार को जानकर ही आप इस कपड़े को जान सकते हैं। सारे संसार को जाने बिना इस एक कपड़े को नहीं जाना जा सकता। एक आदमी को जानना, एक कपड़े को

जानना, किसी एक चीज को जानना—इसका अभिप्राय है कि सारे संसार को जानना होगा।

सब पदार्थ एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो एक-दूसरे से कटा हुआ हो। एक लड़का है। इसका पिता, इसकी मां, मां की मां, फिर उसकी मां की मां, चलते चलें। बाप, बाप का बाप, फिर बाप का बाप। वह कहां से आया, कैसे जीया, वह कहां पैदा हुआ, उसका किन पर प्रभाव पड़ा, कहां पढ़ा, किसने पढ़ाया? एक-एक बात पर विचार करते चले जाएं। कुछ पता ही नहीं चलेगा। इसलिए जैन दर्शन ने एक सिद्धांत का प्रतिपादन किया—**जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ**। जो एक को जानता है, वह सबको जानता है, जो सबको जानता है—वही एक को जान सकता है। यानी सबको जाने बिना एक को नहीं जाना जा सकता और एक को जाने बिना सबको नहीं जाना जा सकता।

हमारा सारा संसार संबंधों से जुड़ा हुआ है। कोई भी पदार्थ एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं है। सब जुड़े हुए हैं। यह एक महान दार्शनिक दृष्टिकोण है—निश्चय का दृष्टिकोण। आप किसी को अलग नहीं कर सकते। इसी आधार पर 'वसुधैव कुटुंबकम्' की अवधारणा की प्रस्थापना हुई। कहा जा सकता है कि सारा संसार तेरा परिवार है। सब आपस में जुड़े हुए हैं। कोई अलग नहीं है। दो-चार भाई आए। बैठे। बातचीत हुई। एक ने कहा—यह मेरा भाई है। किसी ने कहा—यह मेरा मामा है। किसी ने कहा—यह मेरा पिता है। एक ही व्यक्ति किसी का भाई बन गया, किसी का मामा बन गया और किसी का बेटा बन गया। एक व्यक्ति के साथ हजारों संबंध। संबंधों का ऐसा ताना-बाना बुना हुआ है कि एक व्यक्ति लाखों-करोड़ों के साथ संबंध स्थापित कर लेता है। यह तो बहुत स्थूल बात है। सूक्ष्म जगत में जाएं तो संबंधों का सिलसिला इतना लंबा है कि मनुष्य कभी अलग हो ही नहीं सकता। हम स्थूल सचाई को देखते हैं तो हमारी दृष्टि स्थूल होती है। किंतु, जब सूक्ष्म सचाई को देखना होता है तो दृष्टि भी सूक्ष्म चाहिए।

जैन दर्शन ने दो दृष्टियों का प्रतिपादन किया—एक सूक्ष्म दृष्टि और दूसरी स्थूल दृष्टि। हम स्थूल दृष्टि से देखते हैं तो कपड़ा सफेद है, किंतु जब सूक्ष्म दृष्टि से देखेंगे तब निष्कर्ष आएगा कि यह कपड़ा सफेद ही नहीं है। यह काला भी है, पीला भी है, नीला भी है, लाल भी है, सब-कुछ है। क्या यह समझ में आने वाली बात है? आप सूर्य का प्रकाश देखते हैं। आपको सफेद दिखाई देगा। सूर्य की एक किरण में सातों रंग दिखाई देंगे। बहुत-सारी बातें स्थूल दृष्टि से नहीं दिखाई देती, सूक्ष्म दृष्टि से दीखने लग जाती हैं। खुली आंखों से देखते हैं तो कुछ भी दिखाई नहीं देता और जब सूक्ष्म यंत्रों के द्वारा देखते हैं तो पता नहीं, कितने जीवन दिखाई देने लगते हैं। बहुत महत्त्वपूर्ण नय है—निश्चयनय, जिसमें वस्तुस्थिति का पता चलता है।

एक बार एक वैज्ञानिक ने एक कली का फोटो लिया और फोटो आया पूरे फूल का। बड़ा आश्चर्य हुआ। फोटो तो लिया कली का और आया फूल का। दूसरे दिन उसी कली का फोटो लिया, जो फूल बन गया था। उसमें पूरे फूल का फोटो आया। दोनों मिलाए तो वैसा ही फोटो आया जो पहले दिन आया था। निष्कर्ष निकाला कि सूक्ष्म जगत में कली फूल बन गई थी। हमारे स्थूल जगत में कली अब फूल बनी। सूक्ष्म जगत में घटना पहले घटित हो जाती है और स्थूल जगत में वह घटना बाद में आती है। इस आधार पर आज बहुत-सारे निष्कर्ष सामने आ गए हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में कहा जाता है कि सूक्ष्म शरीर में बीमारी पहले हो जाती है और स्थूल शरीर में बाद में प्रकट होती है। किसी शरीर में कैंसर हो गया। पता नहीं चलता। बहुत बाद में पता चलता है। एक सूक्ष्म जगत को देखने वाली दृष्टि और एक स्थूल जगत को देखने वाली दृष्टि। दो प्रकार की दृष्टियां हैं। जिस दृष्टि से हम सूक्ष्म जगत को देखते हैं, उसका नाम है—निश्चयनय और जिस दृष्टि से हम स्थूल जगत को देखते हैं उसका नाम है—व्यवहारनय।

जैन धर्म ने सचाई को देखने के लिए दो दृष्टियों का निर्माण किया। एक द्रव्यार्थिक दृष्टि और एक पर्यायार्थिक दृष्टि। दूसरा विकल्प है—निश्चयनय और व्यवहारनय। यानी भेद को देखने वाला दृष्टिकोण और अभेद को देखने वाला दृष्टिकोण। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन है—जैन दर्शन का। कोई भी भेद ऐसा नहीं, जिसके साथ अभेद न हो। कोई भी अभेद ऐसा नहीं, जिसके साथ भेद न हो। भेद और अभेद दोनों को जानने वाले दृष्टिकोण का नाम है—अनेकांत दृष्टिकोण, सर्वग्राही दृष्टिकोण। जहां कोई आग्रह नहीं, विग्रह नहीं, सबका संकलन करने वाला दृष्टिकोण। इस दृष्टिकोण ने सचाइयों को उद्घाटित किया, अनावृत किया। इस दृष्टिकोण को समझकर वस्तुगत सचाइयों को जानें, देखें, परखें तो वास्तविकता का पता चलेगा और सारे संसार को, जगत को जानने का एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण हमें प्राप्त होगा। ❖

भारतीय प्राज्ञ पुरुषों ने पुनर्जन्म की मान्यता हेतु 'पूर्वजाति-स्मरता' और ज्ञान की मीमांसा की है। संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् (3.18) संस्कार के साक्षात्कार से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। ये संस्कार वासना रूप एवं धर्माधर्म रूप होते हैं और पूर्वजन्मों में निष्पादित होते हैं। संस्कार का संयम करने पर साक्षात्कार होता है। योगियों को इसी से पूर्वजाति का ज्ञान संभव है। मनु ने माना है कि पवित्र आचरण, वेदाभ्यास, तप, समत्व से पूर्वजन्म की स्मृति होती है। श्रीमद्भागवत पुराण, स्कंद पुराण, देवीभागवत आदि में इसका अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। भारतीय मतानुसार जीवन की छः गतियां होती हैं—दो साधारण मनुष्यों की, दो योगियों की व दो मुक्तात्माओं की। कर्म मृत्यु के साथ समाप्त नहीं होते, वरन् पंच-तन्मात्राओं, सोलह तत्त्वों का त्रिगुणात्मक संघात ही 'लिंग शरीर' है और यही 'जीव' है।

पुनर्जन्म : एक विवेचन

प्रो. कल्याणमल लोढ़ा

पुनर्जन्म का जहां कर्मफल विपाक से संबंध है, वहां संस्कार से भी। 'संस्कार' का अर्थ शुद्ध अथवा उन्नति करना है। संस्कार का संबंध 'जातिस्मरता', से भी है। संस्कार एक 'अनुभव' है, मानस कर्म-अतींद्रिय जीववृत्ति। 'शुद्ध तत्त्व' में इसे 'अदृष्ट विशेष जनक कर्म' कहा है। मृत्यु के अनंतर संस्कार 'स्मृति' बन जाती है और परवर्ती जीवन को प्रभावित करती है। बौद्ध धर्म संस्कार को पुनर्जन्म की कर्मावस्था गिनता है और पूर्वभव की संतति पुण्य अपुन्यान्द कर्म करती है। ज्ञान संस्कार के अनुभव का नाम 'स्मृति' और क्रिया संस्कार 'स्वतःभूत चेष्टा' है। ज्ञान और क्रियमान कर्म संस्कार से उत्पन्न होते हैं। पतंजलि ने वासना रूप संस्कार को केवल 'स्मृतिजन्य' कहा है। यह स्मृति जाति, आयु और भोग की है। वाचस्पति मिश्र कहते हैं—'प्रत्यक्ष बुद्धि निरोधस्तदनुसंधान विषयः स्मृति'। योग दर्शन में कहा है—'संस्कार साक्षात् करणात्पूर्वजातिज्ञानम् (3.38)।' पुनः—'संस्कारोऽन्य संस्कारो प्रतिबंधो'। न्यायसूत्र ने इसे और भी स्पष्ट कर दिया है। शिशु के मुख पर हर्ष, विषाद, भय, रुदन व आनंद—ये सभी पूर्वजन्म के ही संस्कार हैं— यथा 'पूर्वभ्यस्त स्मृत्यत बंधा जातरूप[1]। हर्ष, शोकमय संप्रतिपत्तेः।' मांडूक्य श्रुति कहती है कि ब्रह्मज्ञानी के कुल में ब्रह्मविद् ही उत्पन्न होता है।[2] वैदिक कथन है 'नवो नवो भवति जायमानः'। समस्त संस्कार सूक्ष्म शरीर से ही आते हैं। आधुनिक आनुवंशिकता की गवेषणाओं ने इसे और भी प्रमाणित कर दिया है। ऐसा माना जाता है कि शिशु में 50 प्रतिशत संस्कार माता-पिता के, 25 प्रतिशत दादा-दादी, नाना-नानी के व 25 प्रतिशत पूर्वजों से आते हैं। (भारतीय मनोविज्ञान में सीताराम जायसवाल ने समष्टि व व्यष्टि चित्त संस्कारों पर प्रकाश डाला है।) वृहदारण्यक कहता है—'यथा चारी यथाचारी भवति, साधुकारी साधुः भवति, पापाकारी पापो भवति'। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण ने इसकी विशद व्याख्या की है—'यं यं वापि स्मरन्भावंत्यजत्यंते कलेवरम्' (8.6)। मरणशील व्यक्ति की देह को अशुद्ध व अपवित्र वस्तु के स्पर्श से बचाकर

तीन अंकों में समाप्य आलेख की दूसरी कड़ी

रखना चाहिए और सद्भावों को उद्दीप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति इसी के अनुसार इष्ट गति प्राप्त करता है—जीवन में साधना का सुफल मृत्युकाल में प्राप्त होता है। भावी गति इसी अंतिम भाव पर निर्भर करती है। यह दो प्रकार की है 'अपरा' और 'परा'। परा गति ही आवागमन के दुष्चक्र को नष्ट करती है। अंतिम समय में इष्ट में एकाग्रता के फलस्वरूप एक दिव्य प्रकाश उदित होता है (श्री गीता 8-5)। पुनः श्रीकृष्ण यही बात (8-9-10 में) कहते हैं। मृत्यु के समय भावमय देह से जीवनव्यापी कर्म साक्षात् होते हैं। पुराणों में इसे 'चित्रगुप्त का लेखा' कहा है—'गुप्तचित्र'।

नयन्ति नरकं नून मात्मा मानवान् हतः
दिवं लोकं च ते तुष्टां इत्यूचुर्मन्त्रवेदिनः।। (पंचाध्यायी)

श्रीमद्भागवत में 28 नरकों का उल्लेख है और गरुड पुराण में अत्यंत विस्तार से इनका निदर्शन किया है। योगवासिष्ठ के उत्पत्ति प्रकरण में राजा पद्म और लीलावती का प्रसिद्ध आख्यान है। सरस्वती ने लीलावती के प्रसंग में पुनर्जन्म का वर्णन किया है। सरस्वती कहती है—विश्व का विस्मृत हो जाना ही मोक्ष है। योगवासिष्ठ का यह प्रकरण पुनर्जन्म, कर्म व मोक्ष के संदर्भ में गंभीर व्याख्या करता है। यही भावमय देह परलोक की अवस्था है। आज भी ऐसा विश्वास है कि ब्रह्मांड में एक महामानस केंद्र है, जहां प्रत्येक कर्म, अनुभव और संस्कार आदि संचित रहते हैं और दर्पण पर धूल की भांति छाए रहते हैं, जिससे महामानस से हम संबंध नहीं कर पाते[3] और दिव्य पुरुष एक पहेली बन जाते हैं। जे. मकिन ने आधुनिक भौतिकी के प्रचुर प्रमाण देकर यह प्रतिपादित किया है कि संपूर्ण सृष्टि में अनवरत परिवर्तन होता रहता है और यह परिवर्तन असंतुलन से संतुलन की प्रक्रिया है—भारतीय वराह अवतार व वक्रासुर वध व जन्य दैत्यों की पुराकथाओं के आधार पर लेखक का अभिमत है—'डेथ इज ए पार्ट ऑफ दैट साइकल ऑफ विच रिबर्थ इज दि अदर सैल्फ। सैक्रीफाइस इज एन एक्ट ऑफ ट्रान्सफारमेशन ऑफ आवर स्टेज टू एनादर।'

संतुलन की यह प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है। विकास और पूर्णता के लिए स्वामी आत्मानंद ने कहा है कि विकासक्रम का अर्थ है कि भीतर निहित पूर्णता प्राप्त करना और उसका प्रयास। मनुष्य को इसीलिए सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी कहा है—'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्'[4] अथवा 'साबार ऊपरे मानुष सत्य'[5]। श्री शंकराचार्य मानव देह को दुर्लभ कहते हैं। पूर्णता की प्राप्ति चरम और परम लक्ष्य तक पहुंचने की प्रक्रिया मानवत्व में निहित है—जब तक यह लक्ष्य पूरा नहीं होता, तब तक पुनर्जन्म की प्रक्रिया रहती है। महर्षि पतंजलि ने कहा है—'जात्यंतर परिणामः प्रकृत्या पूरात्' (4.2)—'प्रकृति की अपूरण क्रिया से एक योनि से दूसरी योनि में जाना जात्यंतर परिणाम है।' शिवपुराणीय सनत्कुमार संहिता के 35वें अध्याय में शिलाद मुनि को नंदीकुमार शिव की उग्र उपासना से मनुष्य-शरीर त्याग कर देव-देह प्राप्त हो गया था।

जूलियन हक्सले ने अपने ग्रंथ 'दि इवोल्यूशनरी विजन' में लिखा है कि मनुष्य का विकास जैविक नहीं, मनोवैज्ञानिक है। आदि शंकराचार्य ने भी इसी प्रक्रिया पर विचार किया है। महाभारत में इस प्रक्रिया को शांतिपर्व में समझाया है।[6] इस संदर्भ में राजा भरत का उदाहरण ध्यातव्य है। उन्होंने प्राण-प्रयाण के समय अपने प्रिय मृग-शावक में आसक्ति रखी थी और अगले जन्म में वे मृग-शावक ही हुए। आधुनिक विज्ञान में इसे 'एटेविज्म' कहा जाता है।[7] और डॉ. अत्रे ने 'योगवासिष्ठ और उसके सिद्धांत' ग्रंथ में संस्कार की विस्तृत मीमांसा की है। पतंजलि कहते हैं—'अपरिग्रह स्थैर्ये जन्म कथन्तासम्बोधः।'[8] स्वामी हरिहरानंद के मतानुसार आत्मा के पृथकत्व का बोध और शरीर मोह से ऊपर हो जाने से 'जन्म कथंता' का ज्ञान संभव है। विज्ञानभिक्षु कहता है कि 'पर' अर्थात् भावी जन्म का भी ज्ञान संस्कारों से साक्षात् हो जाता है। इस संबंध में जेगीषव्य का वृत्तांत प्रसिद्ध है। स्वामी ओमानंद तीर्थ कहते हैं कि ऋतंभरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला संस्कार अन्य सब व्युत्थान के संस्कारों का बाधक होता है (पातंजल योगप्रदीप—पृ. 250), क्लेशादि वासना से उत्पन्न संस्कार ही चित्त को अधिकार-विशिष्ट करते हैं न कि ऋतंभरा प्रज्ञाजन्य (वही, पृ. 251)। सूत्र 11 में स्मृति को अनुभवों का तन्मात्र विषयक ज्ञान कहा है और सूत्र 20 में ज्ञान और कर्मों के संस्कारों का जाग्रत होना 'स्मृति' कहा है (वही, पृ. 181)। कैवल्य पाद 9 में स्मृति और संस्कार को समान विषयक बनाया है—'स्मृति संस्कारयोरेकरूपत्वात्।'

श्री शक्तिगीता में संस्कार का विशद विवेचन किया गया है। देवी भगवती कहती है—अवतीर्ण होने का कारण समष्टि संस्कार है। कर्म का बीज संस्कार है। सृष्टि का

कारण भी संस्कार है। वह दो प्रकार का होता है—प्राकृत और अप्राकृत। स्वाभाविक संस्कार से मुक्ति और अस्वाभाविक संबंध कारक के अनेक भेद हैं। यहीं पर वैदिक षोडश संस्कारों का विश्लेषण भी भगवती ने किया है। सहज कर्म में स्वाभाविक और जैव कर्म में अस्वाभाविक संस्कार होते हैं। मनुष्य शरीर में अस्वाभाविक संस्कार का प्रवाह अवश्य होकर त्रितापमय आवागमन-चक्र को स्थाई रखता है। इसी जैव कर्म के प्रभाव से स्वर्ग, नरक, प्रेत, पितृभोग और मृत्युलोकरूपी कर्मलोक उत्पन्न होते हैं (श्री शक्तिगीता, पृ. 81-83)।

भारतीय प्राज्ञ पुरुषों ने पुनर्जन्म की मान्यता हेतु 'पूर्वजातिस्मरता' और ज्ञान की मीमांसा की है। इस संबंध में पतंजलि के सूक्त का उल्लेख कर चुके हैं। संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् (3.18) संस्कार के साक्षात्कार से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। ये संस्कार वासना रूप एवं धर्माधर्म रूप होते हैं और पूर्वजन्मों में निष्पादित होते हैं। संस्कार का संयम करने पर साक्षात्कार होता है। योगियों को इसी से पूर्वजाति का ज्ञान संभव है। मनु ने माना है कि पवित्र आचरण, वेदाभ्यास, तप, समत्व से पूर्वजन्म की स्मृति होती है। श्रीमद्भागवत पुराण, स्कंद पुराण, देवीभागवत आदि में इसका अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। भारतीय मतानुसार जीवन की छः गतियां होती हैं—दो साधारण मनुष्यों की, दो योगियों की व दो मुक्तात्माओं की। कर्म मृत्यु के साथ समाप्त नहीं होते, वरन् पंचतन्मात्राओं, सोलह तत्त्वों का त्रिगुणात्मक संघात ही 'लिंग शरीर' है और यही 'जीव' है। सुदर्शनसिंह 'चक्र' ने कर्म व स्मृति को जीव पर पड़े संस्कारों के दो रूप गिनाए हैं। ये हमारे भावों के रेखांकन हैं।

शतेन स्थिरतां याति सहस्रेण च तिष्ठति।
एवं शत-सहस्रेण इहलोके परत्र च।[9]

समष्टि चित्त आकाश में रहता है और उसका संबंध व्यष्टि चित्त के संस्कारों से है—आनुवंशिकता, पुनर्जन्म व संस्कार का अन्योन्याश्रित संबंध है। पुनर्जन्म में प्रारब्ध कर्म का महत्त्व है। संस्कारों का प्रवाह ही पुनर्जन्म का सिद्धांत है। इसके लिए वर्षा का उदाहरण दिया गया है। वसिष्ठ राम से कहते हैं कि—

आशा-पाश-शतैर्बद्धा वासना-भाव-धारिणः।
कायात्काय मुपायान्ति वृक्षाद् वृक्षामिवाऽण्डजाः।।

मनुष्य सैकड़ों आशाओं-वासनाओं में बंधा हुआ मरणोपरांत उनकी पूर्ति करने वाली योनियों में चला जाता है। जिस प्रकार एक पक्षी एक वृक्ष से दूसरे पर जाता है, उसी प्रकार जीव भी विभिन्न योनियों में जाता है। योगी के लिए पिंड और ब्रह्मांड एक हैं—दोनों ही पंचभूतात्मक हैं। मन की अनेक वृत्तियां हैं, उनसे वासना उत्पन्न होती है। चाहे वह दिखाई न पड़े, पर वे हैं अवश्य। वायु की भांति वासना भी सूक्ष्म है। यही ज्ञातत्व का हेतु है। ज्ञातत्व मूल माया से निकला हुआ तंतु है और कारण रूप से मूल माया से लिपटा रहता है। यही ब्रह्मांड में कारण रूप और पिंड में काय रूप है। मुक्तिकोपनिषद् कहता है कि ज्ञान यदि क्लेशरूपी है तो बंधन का कारण है—ऐसे ज्ञान का निरोध ही मुक्ति है। घटाकाश की भांति प्रारब्ध रूप उपाधि से नष्ट होने पर जीव विदेहमुक्त हो जाता है। लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना से प्राणी को वास्तविक ज्ञान नहीं होता। चित्त वृक्ष के दो बीज हैं—प्राण स्पंदन और वासना। एक के क्षीण होने पर दोनों नष्ट हो जाते हैं। वासना की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और तब मन मनन करना छोड़ देता है। तभी परम शांतिप्रद विवेक उपलब्ध होता है। चित्तनाश के दो रूप हैं—सरूप और अरूप। जीवन्मुक्त सरूप होता है और विदेहमुक्त अरूप, जिसमें स्वरूप का नाश-मनोनाश होता है। मन का विषयासक्त होना बंधन है और निर्विषयक होना मोक्ष।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः

(ब्रह्म बिंदु उपनिषद् 2-3)

इस प्रकार ज्ञान से मनोनाश होता है, क्योंकि अज्ञान ही बाधक है। चित्त की एकाग्रता से ज्ञान और ज्ञान से मुक्ति। जीवन्मुक्ति के पश्चात् विदेहमुक्ति—जिसमें 'तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्'—वे सर्वव्यापी भगवान का श्रेष्ठ स्वरूप तत्त्वदर्शी ऋषिगण स्वर्ग में स्थित विस्तृत चक्षु की भांति अवस्थित निरंतर दर्शन करते हैं। जिस प्रकार नेत्र अबाधित रूप से देखते हैं, उसी प्रकार वे भी विष्णु भगवान को देखते हैं। जीवन्मुक्ति तुरीयावस्था है और विदेहमुक्ति उसके परे परम पद।

त्रिपाद् विभूति महानारायणोपनिषद् (उत्तरकांड, अध्याय 5-6) कहता है कि अनंत जन्मों में किए हुए दुष्कर्मों के वासना समूह के कारण जीव को शरीर और आत्मा के पृथकत्व का ज्ञान नहीं होता। इस भ्रम वासना से संसार में विषयासक्त रहता है—फिर वह शुभ-अशुभ

प्रारब्ध कर्मों का भोग करके वासना में ही लिप्त रहता है और अनिष्ट को इष्ट समझता है। इस भ्रांति का कारण भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का अभाव है। सदाचारी संपूर्ण पापों का नाश करता है और उसका अंतःकरण निर्मल हो जाता है। सद्गुरु की कृपा से सिद्धि प्राप्त होती है और परिपक्व विज्ञान से जीवन्मुक्त होता है। मरणकाल में भगवान विष्णु के पार्षदों द्वारा आकाश मार्ग में प्रवेश करता है—गरुड उसे लिवाने आता है। तब विरजा नदी में स्नान कर सूक्ष्म शरीर को छोड़ देता है। इस उपनिषद् में मोक्ष मार्ग का छठे अध्याय में विस्तृत वर्णन है। योगी ब्रह्मविद्या को पार कर भगवान का ध्यान करके नारायण की सरूपता प्राप्त कर और आत्मा की पूजा करता है और अंत में ब्रह्मानंद विभूति में पहुंच जाता है। सारभूत तत्त्व हैं—'उद्धरेद् आत्मनात्मानम्' आत्मा को आत्मा से पहचानो। फलित ज्योतिष के आधार पर आचार्य वराहमिहिर ने वृहज्जातक (25-15) में इस पर विचार किया है।

श्रीमद्वल्लभाचार्य ने जीव की तीन कोटियों का वर्णन किया है, वे हैं—पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा। गुरु गोविंदसिंह ने 'विचित्र नाटक' में अपने पुनर्जन्म की बात कही है। श्री अरविंद कहते हैं—'देही अनेक जन्मों के क्रम से गुजरने के समय अनेक व्यक्तित्व धारण करता है। पूर्वजन्म की स्मृति योग साधना से संभव है'। श्री अरविंद पुनर्जन्म की धारणा को अत्यंत प्राचीन मानते हैं, उतनी ही, जितनी मनुष्य की विचार-शक्ति। आचार्य विनोबा भावे के अनुसार सृष्टि अनादि और अनंत है। आयु के पूर्व और पश्चात् भी यही पुनर्जन्म का प्रमाण है। संत ज्ञानदेव ने कहा था कि वे पूर्वजन्म में राजा थे। कालिदास ने रघुवंश (6.8.89) में जीवन और मृत्यु की व्याख्या की है। वे कहते हैं—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ।

वास्तव में जीवन ही विकार है—जितने क्षण जीवित रहे, उससे ही संतोष करना चाहिए।

मनु ने बीजों में भी प्राण बताया है। इस प्रकार प्राण जड़, चेतन सब में विद्यमान है—कहीं व्यक्त, कहीं अव्यक्त, पर है सब में। आज विज्ञान भी यही सिद्ध कर रहा है कि 'मेटर' में भी अज्ञात भाव से जड़ता किसी चेतना की ओर परावर्तन करती रहती है। स्वामी प्रेमानंद लिखते हैं कि आज भी ऐसे महात्मा हैं, जो अल्पाधिक परिमाण में अपने और अन्य व्यक्तियों के पूर्वजन्म का विवरण दे सकते हैं। साधना के छंद-कंपन संस्कार मनुष्य के चित्त में ही नहीं प्रत्युत वृक्षों-शिलाओं में भी अंकित हो जाते हैं। कहा गया है 'मनो हि जन्मान्तर संगतिज्ञम्'।

स्वामी प्रेमानंद ने बताया है कि आज भी ऐसे व्यक्ति हैं जो अमुक वृक्ष, शिला या स्थान को देखकर कह देते हैं कि इस स्थान पर किसी योगी या अमुक महात्मा ने साधना की थी।[10] गोविंदजी लामा ने अपने ग्रंथ में गुरु टोमो गिशैरियपूछ के पुनर्जन्म का (उनकी भविष्यवाणी के आधार पर) वर्णन किया है। तिब्बती भाषा में धार्मिक नेताओं—लामाओं की जीवनी लिखने की एक विशेष पद्धति है, जिसे 'नैमधर' कहते हैं। इसमें जन्म से लेकर निर्वाण तक की विभिन्न योनियों की गाथा वर्णित रहती है। एक ग्रंथ में रिन्वेनजगपौ (रिन्वैनजगप्पो) ने 19 बार जीवन प्राप्त किया था। आधुनिक चिंतकों व पाश्चात्य विचारकों एवं परा-मनोवैज्ञानिकों ने इस पर जो विचार किया है, उसका उल्लेख पीछे करेंगे। स्वामी प्रेमानंद ने डब्लू. टी. स्टीड द्वारा परलोकगत जूलिया की मरणोपरांत अवस्था का वर्णन उद्धृत किया है। हिंदुस्तान साप्ताहिक (19-3-59) में अंग्रेज ने भारत में एक योगी के द्वारा एक बालक के माध्यम से पूर्वजन्म का विवरण सुना। हेमेंद्रनाथ बनर्जी ने भी ऐसे अनेक उदाहरण दिए हैं। धर्मयुग (24-4-66) में प्रमोदशंकर भट्ट ने पाल गोल्डीन का विवरण दिया है। स्वामी लोकेश्वरानंद ने भी पुनर्जन्म संबंधी एक निबंध में ऐसी घटना का सटीक वर्णन किया है। लंका में जन्मे एक भिक्षु ने अपने को पूर्वजन्म में पूर्व प्रधानमंत्री प्रेमदास बताया था और उसकी हत्या का विवरण दिया था।

भारतीय वाङ्मय में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं। रघुवंश (11.22) में आया है कि राम जब वामन के आश्रम में पहुंचते हैं तो मन से अस्थिर होने के कारण पूर्वजन्म का स्मरण नहीं कर सके। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुंतल अंक 5 में पूर्वजन्म की एवं अंक 7 में पुनर्जन्म की अवधारणा स्पष्ट की है। तुलसीदास की सीता का यह कथन 'प्रीति पुरातन लखै न कोई' और सूरदास की राधा की 'गुपत प्रीत' भी पुनर्जन्म के ही उदाहरण हैं। तुलसीदास तो अपने लिए 'जनम जनम रति राम पद' की ही प्रार्थना करते हैं।

स्वामी विवेकानंद ने पुनर्जन्म पर विचार करके कहा है—'मनुष्य ने अपने संबंध में जितने सिद्धांत निकाले हैं, उन सबमें सर्वाधिक प्रचलित शरीर से भिन्न अस्तित्व वाला अमर आत्मा का ही है।' विभिन्न उदाहरणों से पुष्ट करते हुए लिखा है कि हिब्रू शरीर से भिन्न एक जीवन तत्त्व मानते थे जिसे वे 'नेफेस' या 'नैशामा' कहते थे। ये शब्द प्राणवायु

के प्रतीक हैं—इसका उल्लेख फिलिस्तीन के यहूदी समाज में आज भी है। मिश्र निवासी आत्मा में विश्वास करते थे। विवेकानंद ने सावित्री की कथा का निदर्शन किया है। ईसा मसीह के फेरिसी समाज में भी पुनर्जन्म की मान्यता विद्यमान है—पैगंबर इलिसास ही जान बैपतिस्त बनकर आए थे। प्रसिद्ध दार्शनिक पाल ब्रंटन ने मिश्र के पिरामिडों में फराओ राजाओं की आत्माओं का साक्षात् अनुभव किया था—(विवेकानंद ग्रंथावली, 9वां खंड)। प्रसिद्ध बांग्ला विद्वान फणिभूषण देव ने सांस्कृतिक परंपरा व सैद्धांतिक तथ्यों पर आधृत प्रमाण दिए हैं। फणिभूषण देव का ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय है (परलोक समीक्षण-बांग्ला)।

मृत्युकाल में किस प्रकार आत्मा प्रयाण करती है, इस पर भी विचार करना अभीष्ट है। यह तो कहा जा चुका है कि उदान मार्ग से वह शरीर त्याग करता है। स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, पर सूक्ष्म कारण व लिंग शरीर नष्ट नहीं होता। जीव के लिए कहा गया है—

बालाग्र-शत-भागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स बोद्धव्यः स चानन्त्याय कल्पते।।

(शिव गीता 10.26)

मनोमय कोश ज्ञानेंद्रियों और 'मैं'—मेरा आदि विकल्पों का हेतु है। वही बंधन का कारण है, मन ही अविद्या है। विज्ञानमय कोश 'अहं' भावयुक्त है और पूर्ववासना से पूर्वकर्मों का फल भोगता है। गुणों का अभिमान व ममत्व इसी में रहते हैं (विवेक चूड़ामणि)।

अन्यत्र कहा गया है—'पंचप्राण मनोबुद्धि दशेंद्रिय समन्वितम्[11]' से ही सूक्ष्म शरीर बनता है और कर्मभोग का साधन होता है। ब्रह्मसूत्र[12] कहता है 'सूक्ष्म प्रमाण तस्य तथोपलब्धः' जीव इसी में परलोकगमन करता है। अन्यत्र पुनः कहा गया है—

शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्म तन्विदमुच्यते।

श्रीमद्भागवत के अनुसार—

पंच त्रिधं च लिंग त्रिवत षोडश विस्तृतम्।
एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते।। (4.29.74)

स्वामी व्यासदेव (आत्म विज्ञान) कहते हैं—सूक्ष्म शरीर में ही आत्मा का निवास है। मरणोपरांत इसी शरीर में संस्कार संचित होते हैं और कर्मफल निर्धारित करते हैं। (द्रष्टव्य विनोबा भावे अष्टादश ग्रंथ)—जिसमें उन्होंने इसकी मीमांसा की है। छांदोग्य श्रुति आत्मा को 'ज्योति' कहती है, जो पृथ्वी व विशाल अंतरिक्ष से भी महान और भूलोक से भी बड़ी है। समस्त जड़ जगत उस आत्मा की एक किरण के सदृश भी नहीं है।

पुनः (श्वेताश्वतर 5.9 में) कहा गया है कि जीव न तो स्त्री लिंग है और न पुरुष लिंग। वह तो शरीर के साथ उसके लिंग को धारण करता है। जीव की अत्यंत सूक्ष्मता व देह की स्थूलता के संबंध में आज विज्ञान ने 'सुपरस्ट्रिंग्स' का अनुसंधान किया है, वह हमारी उपर्युक्त मान्यता को परिपुष्ट करता है। इस अनुसंधान से प्रसिद्ध वैज्ञानिक जेनीफर ट्रेनर और मित्रियों काकू ने टी.जी.ई. (थ्योरी ऑफ एर्वी थिंग) से यह निष्कर्ष निकाला है कि पिंड और ब्रह्मांड एक ही तत्त्व से बने हैं, वह अति सूक्ष्मातिसूक्ष्म है—प्रोटीन का एक खरबवां हिस्सा, जो कल्पनातीत और अदृश्य है। यही जीव है जो देहत्याग के पश्चात् विभिन्न योनियों में आवागमन करता है। देहत्याग की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन 'कल्याण के पुनर्जन्म विशेषांक' व स्वामी प्रेमानंद तीर्थ के 'जीवनी एवं पत्रावली' में किया गया है। 'शिव गीता' कहती है कि हृदय पुंडरीक के अधोमुख में अवस्थित है और उसमें उत्तम सूक्ष्मातिसूक्ष्म छिद्र हैं—इसे 'दहराकाश' कहते हैं। इसी स्थल से जीव अवस्थान करता है (शिवगीता 10.25)। 'वेदांतसूत्र' (3.1) में लिखा है कि बीज रूप सभी सूक्ष्म तत्त्वों के सहित यह जीवात्मा एक शरीर से दूसरे में प्रवेश करता है। (3.1.3) आचार्य शंकर ने छांदोग्य, वृहदारण्यक व प्रश्नोपनिषद् के आधार पर 'पंचाग्नि विद्या' का निरूपण किया है। गीता में स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे बहुत-से जीवन हैं जो बीत चुके हैं (2.12.13)। डॉ. मधुरिमा सिंह ने वामदेव कृत 'जन्म-मरण विचार' और अच्युतराय के 'प्रारब्ध ध्वांत संहति' का उल्लेख किया है। इस ग्रंथ में बताया गया है कि गर्भाधान से मृत्युपर्यंत सभी मानवीय कर्म अतीत जीवन के कर्मों द्वारा प्रतिफलित होते हैं। इसके मूल में है प्रारब्ध, संस्कार एवं प्रयास (पृ. 95)। वामदेव ने लिखा है कि 'अतिवाहिक शरीर मृत और आगामी शरीर के मध्य यान का कार्य करता है।'[13]

अब यह विवाद या शंका कि कर्म सिद्धांत पर ईसाई धर्म का प्रभाव है—निर्मूल सिद्ध है। मैकविकोल ने अपने ग्रंथ 'इंडियन थीम्स' में यह शंका उठाई थी। कुछ और भी भ्रांतियां विदेशी (पाश्चात्य) विद्वानों को थी, जो अब पूर्णतया असत्य साबित हो गई हैं। मधुरिमा सिंह ने जे.ई. संजन के ग्रंथ 'डॉग्मा ऑव दि इनकॉरनेशन' व वघेलाट के 'ट्रांसमाइग्रेशन ऑव दि सोल्स' का उल्लेख किया है,

जिसमें जनसंख्या के संदर्भ में पुनर्जन्म के सिद्धांत पर शंका उठाई है, पर वह भारतीय विवेचन के सर्वांगीण विवेचन से निर्मूल सिद्ध होती है। इसके विपरीत ऐसे भी सिद्धांत हैं, जिन्होंने भावी•जीवन के प्रति भारतीय मान्यता को पूर्णतः स्वीकार किया है (अबेंरी कृत 'ऐसियाटिक जोन्स', पृ. 37 पर अर्ल स्पेंसर को सर विलियम जोन्स का पत्र)। स्पिनोजा ने स्वीकार किया कि मृत्यु के पश्चात् मानवात्मा अन्य योनि में निवास करती है। लेसिंग कहता है—'विकास का उच्चतम लक्ष्य एक जीवन में पूरा नहीं होता, वरन कई जन्मों के क्रम से पूर्ण होता है। मनुष्य अनेक जन्म लेगा।' (दि डिवाइन एजुकेशन ऑफ ह्यूमन रेस)।

मोलाना रूम ने कहा कि मैं पेड़-पौधे, कीट-कीड़े पूर्वजन्म में था। अब मनुष्य वर्ग में हूं और देव वर्ग में जाने की तैयारी कर रहा हूं। डॉ. हबसन प्रेतात्माओं में अविश्वास करने वाले को मूर्ख गिनते थे। अंग्रेजी कवियों में ड्राइडन, टेनीसन, शेक्सपियर आदि में पुनर्जन्म के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जेम्स ड्रमन्ड वर्नस के अंतिम शब्द थे—'मैं अब (नए) जीवन की ओर जा रहा हूं।' टी.एस. इलियट ने कहा था—'इन माइ एण्ड इज माइ बिगिनिंग।' जान मिकरी कहता है—'दियर इज नो डेथ, स्टारस् गो डाउन टू राइज अगेन ऑन आदर शोर, दे शाइन फार एवर मोर'। डॉ. स्कून मेकर 'दि अदर साइड ऑफ लाइफ' में लिखते हैं कि आत्मा व चेतना की मृत्यु नहीं होती। संस्कार भूतात्मा के साथ जाता है। इसके साथ-साथ डॉ. एक्लीस ने अपने ग्रंथ 'ड्यूवैलिस्टिक इन्नवेकानस' में लिखा है कि चेतना का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। शरीरांत पर भी इसका अस्तित्व शेष रहता है। चेतना अभौतिक सत्ता है। मृतक स्वयं अपने को भौतिक शरीर से पृथक हवा में उड़ता हुआ पाता है और संबंधियों को चुप भी कराना चाहता है। आधुनिक चिंतक ओसबोर्न भी कहता है कि भविष्य किसी-न-किसी रूप में वर्तमान में विद्यमान रहता है। To see without eyes, to hear without ears, this is impossible, but it does happen—prerecognised and actualised psychological doctrine of eternal reoccurence concept of spacious present. Time follows in past, present and in future : seeing future is seeing past.—*The Future is Ours.*

पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता थी कि पतित आत्माओं का पुनर्जन्म पशुयोनियों में होता है। दुराचारी-कदाचारी गिद्ध, गधे, भेड़िया आदि बनते हैं। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि यूनानी दार्शनिकों ने 'ओरफिज्म' सदृश रहस्यात्मक तत्त्वों का ज्ञान भारत से प्राप्त किया था। इसी प्रकार कबालियों में भी पूर्वजन्म और पुनर्जन्म पर विश्वास के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। उनकी मान्यता है कि आत्मा को पूर्णता की प्राप्ति पर ही कैवल्य प्राप्त होता है अन्यथा वे बार-बार आवागमन करती रहती हैं। इसी प्रकार प्रसिद्ध धर्मशास्त्री ओरेजेन स्पष्टतः पुनर्जन्म में विश्वास करता था। ओरेजेन ईसाई धर्म का प्रगाढ़ विद्वान् था।

वाल्तेयर पुनर्जन्म में पूरी आस्था रखता था। सन् 1814 में अमेरिका के जॉन ऐडेम्स ने तथा थॉमस जेफरसन ने माना कि परम पिता के प्रति विद्रोह करने पर पतित आत्माएं अंधकार के गर्त में डाल दी जाती हैं। इस सदी के प्रारंभ में एक ग्रंथ का पता चला The Transmigration of the Seven Brahmans.— इसमें देहांतरण की घटना का संबंध सात ऋषियों के जीवन से है, जिन्होंने बार-बार कई योनियों में जन्म लिया। मैं यहां प्रसिद्ध दार्शनिक व चिंतक इमर्सन की कविता Song of Myself का उल्लेख करना चाहूंगा, जिसमें उसने स्पष्टतः कहा है कि हमने न जाने कितनी बार जन्म लिया है और आगे लेंगे। फ्रेंच लेखक बालजक ने एक पूरा उपन्यास सीराफीटा (Seraphita) पुनर्जन्म पर लिखा है। चार्ल्स डिकन्स ने पुनर्जन्म पर गहरा अनुसंधान किया (डेविड कॉपरफील्ड)। जैक लंडन ने 'दि स्टार रोवर' उपन्यास का विषय भी पुनर्जन्म बनाया। प्रसिद्ध लेखक हर्मन हेस ने सहस्रों संबंधों के प्रसंग में पुनर्जन्म का उल्लेख किया है। मनोवैज्ञानिक कार्ल युंग तो पुनर्जन्म में पूरी आस्था रखता था। उसने 'सनातन आत्मा के प्रत्यय का उपयोग' किया है। थामस हॉब्स, हक्सले के देहांतरण के सिद्धांत में अटूट विश्वास रखता था। इजाक बेथेविस सिंगर ने अपनी अनेक कहानियों में पूर्वजन्म, पुनर्जन्म के संबंध में लिखा था कि मृत्यु अर्थहीन है। मैं मेसफील्ड की कविता का संदर्भ देना चाहता हूं, जिसमें उसने कहा है कि जब व्यक्ति मरता है तो उसे पुनः पृथ्वी पर आना पड़ता है, और उसे अन्य माता-पिता मिलते हैं। ऐसे अनेक दार्शनिक, चिंतक, कलाकार और कवि हैं, जिनकी वृहत सूची है (संदर्भ : पुनरागमन ग्रंथ)।

अनेक देशों में पुनर्जन्म की मान्यता प्रारंभ से ही स्वीकृत रही। बेबिलोनिया निवासी मानते थे कि मृत्यु के अनंतर एक देह पुनः स्वर्ग में अवतीर्ण होगी और वे मृत व्यक्ति का विशेष आलेपन करते थे। अवेस्ता में स्वर्ग और नरक का वर्णन है। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो व पाइथोगोरस का पुनर्जन्म में विश्वास था। पाइथोगोरस का कथन है कि

पापियों की आत्मा पुनः पशु योनि में जाती है। प्लेटो ने मनुष्य जन्म के लिए सत्य की उपलब्धि आवश्यक गिनी थी। सुकरात मृत्यु को स्वप्नविहीन चिर निद्रा और 'पुनर्जन्म का द्वार' गिनता था। एम्पीडिकन्स ने बताया कि वह पूर्वजन्मों में मछली आदि था। केनेथ बार्थर ने अपने ग्रंथ 'दि साइकल ऑफ बर्थ' में आवागमन की मान्यता प्रमाणित की है। यूनान, मिश्र और रोम भी पुनर्जन्म में विश्वास करते थे। प्लूटार्क व सोलोमन के कथन इस विषय में स्पष्ट हैं। मैक्सिको के प्राचीन निवासियों में यही मान्यता थी। सीरियन संप्रदाय 'वार्डिसिनीज' का एक सूक्ष्म शरीर में विश्वास था। दक्षिण अमेरिका के आदिवासी पुनर्जन्म में विश्वास करते थे। इस्लाम में रघजिया और इस्माइली संप्रदाय कर्मवाद व पुनर्जन्म के पोषक थे। सूफी दार्शनिक जलालुद्दीन कहता है—

जां कि मर्ममहम चू जां खुदा आमदस्ता।
मर्गमन दरवारा चंग अन्दर ज दस्त।।

अर्थात् मृत्यु मुझे जीवन के सदृश प्रिय है—मृत्यु के बाद पुनर्जन्म प्राप्त हो जाएगा। स्वामी प्रेमानंद के अनुसार प्रथम प्रचलन में ईसाई धर्म पुनर्जन्मवाद से प्रभावित था—मध्य युग में इसे अस्वीकार कर दिया गया और उसमें विश्वास रखने वालों को शापित करार कर दिया गया। कवियों और दार्शनिकों का भी पुनर्जन्म पर विश्वास था। गेटे ने कहा कि वह अनेक जीवन धारण कर चुका है और आगे भी करेगा। शोपेनहावर ने मृत्यु को निद्रा गिना—यही 'लेथी' है। ह्यूम शून्यवादी था, पर पुनर्जन्म में उसका विश्वास था। स्पिनोजा, हर्टली, प्रीस्टले आत्मा की अमरता मानते थे। शिलिंग ने इस पर एक कहानी भी लिखी। नावोलिस ने कहा 'जीवन एक कामना है—कर्म उसका परिणाम'। साराह विलियम कहता है 'मेरी आत्मा एक दिन आलोक में पुनः उदित होगी'। हिगेल आत्मा की पूर्णता की ओर बढ़ने की बात कहता था। लिबनिज ने कहा—'अंतरावर्तन का ही नाम मृत्यु है'। इमरसन गीता के पुनर्जन्मवाद का समर्थक था। वाल्ट विटमेन ने कहा कि मैंने दस हजार बार मृत्यु का वरण किया है। मैक्डगूल ने घोषणा की कि पुनर्जन्म में विश्वास न करना भयावह होगा। डॉ. हबसन तो प्रेतात्मा में अविश्वास करने वाले को मूर्ख कहते थे। ड्राइडन, टेनीसन, शैली व शेक्सपियर भी पुनर्जन्म को स्वीकार करते थे। प्रकृति में मृत्यु नाम की कोई वस्तु नहीं है, वह तो पुरातनता को नवीनता देती है। जेन्स ड्रमन्ड बर्न ने कहा कि मैं बीस वर्षों से मर रहा था, अब जीवन की ओर जा रहा हूं। देशबंधु दास ने मरणकाल में एक कविता लिखी थी, 'मेरे अभिमान की गठरी सिर से उतार लो—मेरी पुस्तकों का भार भी उतारो—मैं बहुत थक चुका हूं और अब नयी यात्रा पर जा रहा हूं।' रवींद्रनाथ की एक कविता है—

तुमि जतो भार दिए छो से भार करिया दिए छो सोझा।
आमि जता भार जमिये तुलेछि सकल होये छे बोझा।।
ए बोझा आमार नामाओ, बंधु नामाओ।
भारेर वेगेति ठेलिया चलेछि ए जात्रा आमार थामाओ।
(बंधु थामाओ)

विज्ञान के सिद्धांत 'एक्सियोबायोलोजी' ने भी आवागमन का सिद्धांत पुष्ट किया है। मानस बागची के अनुसार जीवन एक निरंतर चक्र है—'लाइफ इटसेल्फ इज रिपीटिटिव विद इट्स एंड टाइड टू इट्स बिगिनिंग बाइ ए चेन ऑफ इवन्ट्स।' मृत्यु अपनी छाया डालती है और पुनः नवीन जीवन एवं चक्र का सूत्रपात करती है (दि टेलीग्राफ 20.09.97) (पुनः परिशिष्ट 2)। श्रीराम आचार्य ने अपने ग्रंथ 'मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य' में अनेकानेक प्रमाणसिद्ध उदाहरणों से पाश्चात्य विद्वानों का अभिमत देकर पुनर्जन्म संबंधी धारणा को प्रतिपादित किया है। उन सबका यहां संक्षेप में वर्णन भी संभव नहीं। यही नहीं, उन्होंने तो मरणोपरांत पुनः जीवन प्राप्त करने के भी अनेक प्रमाण दिए हैं। ❖

क्रमशः

शेष अगले अंक में

संदर्भ

1. न्यायसूत्र (3.1.19)
2. माण्डूक्योपनिषद्
3. डॉ. मधुरिमा सिंह—आत्मा-कर्म-पुनर्जन्म और मोक्ष
4. महर्षि व्यास
5. कवि चंडीदास—बांग्ला कवि
6. महाभारत—शांति पर्व
7. स्वामी आत्मानंद से उद्धृत
8. पतंजलि योगसूत्र (स्वामी हरिहरानंद की टीका)
9. सुदर्शनसिंह चक्र—भारतीय अध्यात्म परंपरा
10. स्वामी प्रेमानंद—जीवनी और पत्रावली (जन्म-मृत्यु, निबंध)
11. ब्रह्मसूत्र
12. डॉ. मधुरिमा सिंह—आत्मा-कर्म-पुनर्जन्म और मोक्ष
13. भगवान महावीर—उत्तराध्ययन सूत्र 317 ❖❖

ज्ञान के अनुसार आचरण, नीति दर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। ज्ञान के बिना आचरण अंधा है तथा आचरण के बिना ज्ञान पंगु है। सांख्य दर्शन में जिस प्रकार प्रकृति एवं पुरुष के संबंध को अंधपंगुवत् माना गया है, वैसे ही आचार-मीमांसा के क्षेत्र में ज्ञान और आचार का संबंध है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। जैन दर्शन के अनुसार आचार की पृष्ठभूमि ज्ञान है। पहले ज्ञान, फिर आचार—'पढमं नाणं तओ दया।' भगवान महावीर के आचार-शास्त्र का सूत्र है—'ज्ञानं प्रथमो धर्मः'। ज्ञान के बिना आचार का निर्धारण नहीं हो सकता। ज्ञानी मनुष्य ही आचार और अनाचार का विवेक करता है तथा अनाचार को छोड़कर आचार का पालन करता है। सत्यासत्य का विवेक ज्ञान पर निर्भर करता है। सूत्रकृतांग में भी यही तथ्य प्रतिपादित हुआ है। पहले बंधन को जानो, फिर उसको तोड़ो। बंधन क्या है? उसके हेतु क्या हैं? उसे तोड़ने के उपाय क्या हैं? इन सबको जानने पर ही बंधन को तोड़ा जा सकता है। यह दृष्टि न केवल ज्ञानवाद है और न केवल आचारवाद है। यह दोनों का समन्वय है।

आचार मीमांसा : एक विमर्श

समणी मंगलप्रज्ञा

आचार का शाब्दिक अर्थ है—आचरण। जिसका आचरण किया जाए वही आचार है। **आचर्यते इति आचारः**। आङ् उपसर्गपूर्वक चर-गतौ धातु से भाव में घञ् प्रत्यय करने से आचार शब्द निष्पन्न होता है। जो आचरण, व्यवहार, रीति-रिवाज आदि का वाचक है। गत्यर्थक चर धातु से निष्पन्न होने से इसमें ज्ञानार्थकता भी अन्तर्निहित है। अतः सम्यक् ज्ञान सहित उत्कृष्ट आचरण ही आचार है। शिष्ट व्यक्तियों द्वारा आचीर्ण ज्ञान-दर्शन आदि के आसेवन की विधि को आचार कहा जाता है।[1] वेश-धारण आदि बाह्य क्रिया-कलाप को भी टीकाकारों ने आचार कहा है।[2] आचार शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। यथा—धर्म, नीति, कर्तव्य, नैतिकता आदि। मानव के कर्तव्यों के रूप में जिन बातों का अथवा जिन नियमों का होना आवश्यक है, वे सब नियम आचार में समाहित हो जाते हैं। स्थानांग वृत्ति में आचार शब्द के आचरण, व्यवहार एवं आसेवन, ये तीन अर्थ उपलब्ध होते हैं।[3] आचारांग के भाष्य ने परिज्ञा, विरति अथवा संयम को आचार कहा है।[4] आचार की यह व्यापक स्वीकृति है। इसमें ज्ञान एवं आचरण—दोनों का समावेश हो गया है। ज्ञ एवं प्रत्याख्यान के भेद से परिज्ञा दो प्रकार की है।[5] इस प्रकार जानना और छोड़ना, ये दोनों साथ मिलकर ही आचार को पूर्णता प्रदान करते हैं।

आचार का स्वरूप

भारतीय दर्शन में धर्म, आचार, नीति आदि शब्द परस्पर पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं। धर्म शब्द का प्रयोग व्यापक क्षेत्र में हुआ है। सामाजिक कर्तव्यों को भी धर्म की अभिधा से अभिहित किया गया, वहीं चारित्र को

धर्म का लक्षण बताया गया।[6] अपने स्वरूप में रमण करने को चारित्र कहा गया है—**स्वरूपे चरणं चारित्रम्**। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अपने स्वभाव में स्थित रहना ही चारित्र है। इसलिए यह भी कहा गया—**वत्थुसहावो धम्मो।**[7] वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। वस्तुतः स्वभाव में रहना ही आचार है। जिन उपायों से जीव अपने स्वभाव में रमण करता है, वे सारे उपाय आचार के अंतर्गत परिगणित होते हैं। अहिंसा, संयम एवं तप धर्म के स्वरूप हैं[8], वे ही आचार के साधक तत्त्व हैं।

आचार व्यक्ति का क्रियात्मक पक्ष है तथा विचार उसका ज्ञानात्मक पक्ष है। ज्ञान का प्रकटीकरण जब क्रिया में होता है तब वह आचार बन जाता है। ज्ञान स्व-संवेद्य है। आचार पर-संवेद्य भी है। व्यक्ति के अच्छे या बुरे का मापन ज्ञान से नहीं होता, उसके आचरण से होता है। व्यावहारिक मनोविज्ञान का मूल आधार व्यक्ति का आचार ही है।

समता या समभाव आत्मा का स्वभाव है और विषमता उसका विभाव है। विभाव से स्वभाव की दिशा में अथवा विषमता से समता की ओर ले जाने वाला आचरण ही सदाचार है। जैन धर्म के अनुसार सदाचार या दुराचार का शाश्वत मानदंड समता एवं विषमता है। स्वभाव दशा से फलित होने वाला आचरण सदाचार है और विभाव दशा या पर-भाव से फलित होने वाला आचरण दुराचार है।

आचरण की देशकालानुसारिता

जैन दर्शन के अनुसार सदाचार का शाश्वत मानदंड कर्मबंधन से मुक्ति ही है। जो भी आचरण जीव को कर्म-मुक्ति की दिशा में ले जाता है, वह सद् आचरण है। कर्मबंधन की ओर ले जाने वाला आचरण असद् आचरण है। देश, काल, परिस्थिति के अनुसार आचरण के बाह्य साधनों में परिवर्तन हो सकता है। परिस्थिति-विशेष में सद् आचरण एवं असद् आचरण के स्वरूप में पर्याप्त अंतर आ जाता है। जैसे सामान्य स्थिति में आत्महत्या दुराचार है, किंतु शीलरक्षा हेतु किया जाने वाला देहोत्सर्ग सदाचार की कोटि में परिगणित है। देश, काल, परिस्थिति के अनुसार सदाचार दुराचार बन जाता है, दुराचार; सदाचार बन जाता है। जैन विचारणा का यह स्पष्ट अभिमत है कि आचार के जो प्रारूप सामान्यतया बंधन के कारण हैं, वे ही परिस्थिति-विशेष में मुक्ति के कारण बन जाते हैं और मुक्ति के साधन बंधन के कारण बन जाते हैं। **जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।**[9] आचार एवं अनाचार पर विचार करते समय आचार्य उमास्वाति ने भी देश, काल, परिस्थिति को प्रधानता दी है। एकांत रूप से न तो कोई कर्म आचरणीय होता है और न ही अनाचरणीय। इसी अवधारणा को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है—

देशं कालं पुरुषमवस्थामुपघातशुद्धपरिणामान्।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम्।।[10]

किसी कार्य की आचरणीयता और अनाचरणीयता देश, काल, व्यक्ति, परिस्थिति और मनःस्थिति पर निर्भर होती है। महाभारत में भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन हुआ है—

य एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः।
आदानमनृतं हिंसा धर्मो व्यावस्थिक स्मृतः।।[11]

वस्तुतः सदाचार के मानदंडों में परिवर्तन दैशिक और कालिक आवश्यकता के अनुरूप होता रहता है। मनु ने काल के आधार पर सतयुग, कलयुग आदि के आचरण में भिन्नता स्वीकार की है।[12] जैन विचारकों ने सदाचार या नैतिकता के परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील अथवा सापेक्ष और निरपेक्ष—दोनों पक्षों पर प्रभूत विचार किया है।

ज्ञान एवं आचरण

जीवन विकास एवं समाज को स्थिर-संपन्न बनाने के लिए आचार की नितांत आवश्यकता होती है। मानव के कर्तव्य के रूप में जिन बातों का अथवा जिन नियमों का होना आवश्यक है, वे सब नियम आचार में समाहित हो जाते हैं। आचार सभी भारतीय, पाश्चात्य चिंतकों के विमर्श का विषय रहा है। सुकरात, प्लेटो एवं अरस्तू के दर्शन में नीति को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। सुकरात ने ज्ञान को सर्वोच्च शुभ माना है—Virtue is Knowledge,[13] किंतु आचार मीमांसा के क्षेत्र में सुकरात की यह अवधारणा पूर्ण रूप से समर्थित नहीं हो पाई, क्योंकि आचरणशून्य ज्ञान पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता। कोरे ज्ञान से व्यक्ति का आचरण ठीक हो ही जाए, यह आवश्यक नहीं है, अपितु व्यवहार में इसके विपरीत भी देखा जाता है। महाभारत में दुर्योधन कहता है—मैं धर्म को जानता हूं, किंतु उस ओर मेरी प्रवृत्ति नहीं है तथा अधर्म को भी जानता हूं किंतु उससे निवृत्त नहीं हो पा रहा हूं—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः,
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।[14]

ज्ञान के सही होने पर आचरण की शुद्धता अनिवार्य नहीं है। अतः सुकरात का वक्तव्य आचार के क्षेत्र में

अपर्याप्त माना जाता है—

The Socratic formula 'virtue is knowledge' is found to be an inadequate explanation of the moral life of man. Knowledge of what is right is not coincident with doing it, for man, while knowing the right course, is found deliberately choosing the wrong one. Desire tends to run counter to the dictates of the reason.... Hence mere intellectual instruction is not sufficient to ensure right doing.[15]

बुद्धि और इच्छा के मध्य संघर्ष चलता रहता है। बुद्धि सही एवं गलत का निर्णय करती है किंतु इच्छा यथार्थ को छोड़कर अयथार्थ के मार्ग पर अग्रसर हो जाती है। ऐसी अवस्था में इच्छा को संयमित करना आवश्यक होता है। जीवन के प्रारंभ में अच्छी आदत के निर्माण के लिए बाह्य नियंत्रण की आवश्यकता होती है, बाद में वह व्यक्ति के जीवन का अंग बन जाती है।[16] बुद्धि और इच्छा में सामंजस्य आवश्यक है। इच्छा को किस प्रकार बुद्धि के अनुकूल बनाया जाए। इसका प्रशिक्षण आवश्यक है। अरस्तु ने बुद्धि एवं इच्छा के सामंजस्य के सिद्धांत को आचार के क्षेत्र में विकसित किया। उनका अभिमत है—

In the case of the continent and of the incontinent man alike, he says, "we praise the reason or the rational part, for it exhorts them rightly and, urges them to do what is best, but there is plainly present in them another principle besides the rational one, which fights and struggles against the reason. For just as a paralysed limb, when you will to move it to the right, moves on the contrary to the left, so is with the soul, the incontinent man's impulses run counter to his reason. Again he speaks of 'the faculty of appetite or of desire in general which partakes of reason in a manner—that is, in so far as it listens to reason and submits to its sway..... Further, all advice and all rebuke and exhortation testifies that the irrational part is in some way amenable to reason.'

Moral virtue, for Aristotle, is a habit of choice or purpose, purpose being desire following upon deliberation. A right purpose then involves both true reasoning and right desire. Hence the final end of moral discipline is the reform, and not the suppression, of desire.[17]

ज्ञान के अनुसार आचरण, नीति दर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। ज्ञान के बिना आचरण अंधा है तथा आचरण के बिना ज्ञान पंगु है। सांख्य दर्शन में जिस प्रकार प्रकृति एवं पुरुष के संबंध को अंधपंगुवत्[18] माना गया है, वैसे ही आचार-मीमांसा के क्षेत्र में ज्ञान और आचार का संबंध है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। जैन दर्शन के अनुसार आचार की पृष्ठभूमि ज्ञान है। पहले ज्ञान, फिर आचार—**पढमं नाणं तओ दया**।[19] भगवान महावीर के आचार-शास्त्र का सूत्र है—**ज्ञानं प्रथमो धर्मः**। ज्ञान के बिना आचार का निर्धारण नहीं हो सकता। ज्ञानी मनुष्य ही आचार और अनाचार का विवेक करता है तथा अनाचार को छोड़कर आचार का पालन करता है। सत्यासत्य का विवेक ज्ञान पर निर्भर करता है। सूत्रकृतांग में भी यही तथ्य प्रतिपादित हुआ है। पहले बंधन को जानो, फिर उसको तोड़ो।[20] बंधन क्या है? उसके हेतु क्या हैं? उसे तोड़ने के उपाय क्या हैं? इन सबको जानने पर ही बंधन को तोड़ा जा सकता है। यह दृष्टि न केवल ज्ञानवाद है और न केवल आचारवाद है। यह दोनों का समन्वय है।

सार की खोज मनुष्य की मनीषा का चिरंतन प्रयत्न है। जिसमें पोषकशक्ति है, स्नेह है, सरसता है, मधुरता है—वह सार है। दूध पोषक है। मनुष्य उससे संतुष्ट नहीं हुआ। उसने सार की खोज की और नवनीत मिल गया। छिलके में पोषक शक्ति है। मनुष्य उससे संतुष्ट नहीं हुआ। आम के सार को प्राप्त किया, मधुरता प्रत्यक्ष हो गई। ज्ञान विवेक शक्ति का उद्घाटक है, किंतु मनुष्य इतने मात्र से संतुष्ट नहीं हुआ। वह ज्ञान के सार तत्त्व के अन्वेषण में लगा रहा। ज्ञान के सार की खोज में आचार हस्तगत हो गया। ज्ञान का सार आचार है।[21] आचार के अभाव में ज्ञान अधूरा है। मार्क्स ने कहा—दर्शन आदमी को ज्ञान देता है, पर बदलता नहीं, इसलिए ऐसा दर्शन चाहिए जो समाज को बदल सके। पश्चिमी दार्शनिकों ने तत्त्वज्ञान और आचार को विभक्त कर दिया, अतः मार्क्स की यह टिप्पणी स्वाभाविक है। भगवान महावीर ने कोरा दर्शन नहीं दिया, अपितु जीवन् में आचरित दर्शन भी प्रदान किया। ज्ञान प्रथम आवश्यकता है। जानने के बाद आचरण करना आवश्यक है।

आचार का आधार : आत्मज्ञान

कोई भी क्रिया की जाती है तो एक प्रश्न उपस्थित होता है कि इस प्रकार की क्रिया क्यों की जा रही है? इसका हेतु क्या है? आधार क्या है? आधार का निश्चय हुए बिना कोई आचार-संहिता नहीं बन सकती। सबसे पहले आधार का अन्वेषण आवश्यक होता है। प्रायः सभी भारतीय दर्शनों के आचार का आधार आत्मा ही है। अनात्मवाद के आधार पर बनने वाली आचार-संहिता एक प्रकार की होगी और आत्मवाद के आधार पर बनने वाली आचार-संहिता दूसरे प्रकार की होगी। जैन दर्शन की आचार-संहिता का आधार आत्मा है। अतः आचार-निर्धारण से पूर्व आत्मा का अवबोध होना आवश्यक है। आचारांग का प्रारंभ आत्म-जिज्ञासा से ही होता है।[22] एक प्रश्न हो सकता है—क्या आत्मा को जाना जा सकता है? भगवान महावीर इसका उत्तर हां में देते हैं। आत्मा को जाना जा सकता है। उसको जानने के तीन हेतुओं का उल्लेख आचारांग में है।[23]

1. साधना करते-करते अतींद्रिय ज्ञान विकसित हो सकता है। उससे आत्म-साक्षात्कार हो सकता है।
2. यदि साधना करने पर भी अपनी मति विकसित न हो तो प्रयत्न नहीं छोड़ना चाहिए। जब यह ज्ञात हो जाए कि अमुक व्यक्ति अतींद्रिय ज्ञान से संपन्न है, तो उसके पास जाकर—मैं कौन हूं? कहां से आया हूं? इत्यादि प्रश्न पूछने चाहिए।
3. किसी व्यक्ति को अतींद्रिय ज्ञानी से मिलने का अवसर मिला हो, वैसे व्यक्ति से संपर्क कर उन प्रश्नों का समाधान करना चाहिए।

इन तीन माध्यमों से अपने अस्तित्व के बारे में जानने का प्रयत्न करना चाहिए। जब अपने अस्तित्व का बोध हो जाता है तब आगे की रेखाएं स्पष्ट हो जाती हैं। जैसे ही आत्मा है, मैं हूं, मैं चैतन्य हूं, मैं पहले भी था और बाद में भी होऊंगा—यह स्पष्ट हो जाता है, तब आचार-शास्त्र की अनेक समस्याओं का समाधान हो जाता है।

आत्मा पर श्रद्धा करना भी आत्म-ज्ञान की प्रथम भूमिका है। जब तक आत्म-साक्षात्कार नहीं होता तब तक श्रद्धापूर्वक आत्मा के अस्तित्व की स्वीकृति आचार के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व की स्वीकृति एवं संसारावस्था में कर्म के कारण उसका परिभ्रमण हो रहा है, जब यह तथ्य अवगत हो जाता है तो साधना का प्रारंभ हो जाता है। जैन दर्शन के आचार के केंद्रबिंदु में आत्मा है। आत्मा संसारावस्था में कर्म से आबद्ध है, अतः उसका अनुसंचरण हो रहा है। आत्मा के अनुसंचरण को समाप्त करने के लिए उसे कर्ममुक्त करना आवश्यक है। इस अवधारणा के साथ ही जैन आचार का मूल आधार कर्मवाद है। जैन आचार पर समग्रता से दृष्टिपात करें तो पाते हैं कि कर्म की अवधारणा के अनुसार ही आचार का निर्धारण हुआ है। साधु जब दीक्षा स्वीकार करता है, उस समय उसका प्रथम संकल्प होता है—'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि'[24] संपूर्ण पापकारी प्रवृत्तियों को छोड़ने के संकल्प के साथ ही उसकी श्रमणत्व की साधना प्रारंभ हो जाती है। साधु-श्रावक सबके करणीय-अकरणीय का विवेक कर्म सिद्धांत पर ही आधारित है। जिस प्रवृत्ति से कर्म का आश्रवण होता है—वह प्रवृत्ति हेय है। पापकर्म सर्वथा हेय ही है। 'अकरणिज्जं पावकम्मं'।[25] संचित कर्म का नाश एवं नए कर्म का उपार्जन जिसके द्वारा नहीं होता हो, वह कार्य साधक के लिए करणीय है।

आत्मा की त्रैकालिकता जैन दर्शन में मान्य है।[26] कर्मों के कारण संसारावस्था में आत्मा का स्वाभाविक शुद्ध स्वरूप प्राप्त नहीं है। आत्मा की यह अशुद्धि कर्म के कारण है, जो संसार में परिभ्रमण का कारण बनती है। आत्मा के बद्ध रूप में उपलब्ध होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म है एवं उसकी कारणभूत क्रिया है, जिससे आत्मा का संसार में अनुसंचरण हो रहा है। इसलिए आचारांग में आचार के आधार के रूप में चार वादों का उल्लेख है। आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद एवं क्रियावाद[27] का आचार-मीमांसा के संदर्भ में मूल्यांकन करना बहुत ही महत्त्वपूर्ण होगा। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार ये चारों वाद संपूर्ण आचार-शास्त्र के आधार हैं। इस अवधारणा को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है—

'सबसे पहला तत्त्व है—आत्मा, आत्मा के ज्ञात हो जाने पर यह ज्ञात हो जाता है कि लोक है। लोक का अर्थ है—पुद्गल। पुद्गल दृश्य है। 'लोक्यते इति लोकः'—जो दृष्ट होता है, वह लोक है। पुद्गल देखा जाता है, इसलिए उसे लोक कहा गया है। जो आत्मा को जान लेता है, वह पुद्गल को जान लेता है। जो आत्मवादी है, वह लोकवादी है। आत्मा भी हो और पुद्गल भी हो, किंतु यदि उनमें कोई संबंध न हो तो न आत्मा पुद्गल को प्रभावित कर सकती है और न पुद्गल आत्मा को प्रभावित कर सकता है। यदि केवल चेतन ही होता, अथवा केवल पुद्गल ही होता तो

परिभ्रमण का कोई हेतु ही नहीं होता, किंतु कर्म नाम का तीसरा तत्त्व आत्मा एवं पुद्गल के संबंध का परिचायक है। यह कर्म ही आत्मा के संसार-परिभ्रमण का हेतु है। आत्मा और कर्म का संबंध है और उस संबंध का सेतु है—क्रिया। अक्रिय अवस्था में कोई संबंध स्थापित नहीं हो सकता। जैसे-जैसे कषाय क्षीण होते हैं, अक्रिया की स्थिति आने लगती है, तब आत्मा और कर्म का संबंध क्षीण होने लगता है। जब चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण अक्रिया की स्थिति घटित हो जाती है, तब सारे संबंध नष्ट हो जाते हैं।[28]

रत्नत्रय : मोक्षमार्ग

कर्म आत्मा के मौलिक गुणों का आच्छादन एवं घात करते हैं, फलस्वरूप आत्म-विस्मृति हो जाती है और अनंत संसार में परिभ्रमण होता रहता है। आचार-मीमांसीय तत्त्व इस विजातीय संबंध को तोड़ने का प्रयत्न करते हैं। सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र रूप रत्नत्रय के परम प्रकर्ष के द्वारा वह विजातीय संबंध समाप्त हो जाता है तथा आचार का परम शुभ रूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है। सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र रूप रत्नत्रय समन्वित रूप से मोक्ष का मार्ग है।[29] निश्रेयस् की प्राप्ति रत्नत्रय का अनुपालन करने से ही संभव है। जैन आचार में ज्ञान एवं चारित्र/आचरण को समान रूप से महत्त्व प्राप्त है। दोनों संयुक्त होकर ही मोक्षाराधना के हेतु बन सकते हैं।

आध्यात्मिक विकास के लिए आचार का प्रथम सोपान सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन के अभाव में ज्ञान एवं क्रिया दोनों ही फलवान् नहीं बन सकते।[30] अतः आध्यात्मिक आरोहण के लिए सम्यक् दर्शन का होना प्राथमिक अनिवार्यता है। सम्यक् दर्शन की प्राप्ति के साथ ही ज्ञान स्वतः ही सम्यक् बन जाता है। उसके लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। समीचीन ज्ञान की पूर्णता चारित्र से प्राप्त होती है। ज्ञान की समग्रता साधना के बिना संभव नहीं है। इसलिए मुक्ति का अनंतर कारण चारित्र/आचार ही है। दर्शन एवं ज्ञान को क्रम की दृष्टि से परंपर कारण कहा जा सकता है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में मोक्षमार्ग के निरूपण के प्रसंग में इनका जो क्रम रखा है उससे इनकी परंपर एवं अनंतर कारणता का बोध हो जाता है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र का त्रिवेणी-संगम प्राणिमात्र में होता है, पर उससे साध्य सिद्ध नहीं होता। ये तीनों यथार्थ और अयथार्थ—दोनों प्रकार के होते हैं। श्रेयस् की साधना यथार्थ दर्शन, ज्ञान और चारित्र से होती है। साधना की दृष्टि से सम्यक् दर्शन का स्थान पहला है, सम्यक् ज्ञान का दूसरा और सम्यक् चारित्र का तीसरा। दर्शन के बिना ज्ञान, ज्ञान के बिना चारित्र, चारित्र के बिना कर्म-मोक्ष और कर्म-मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं हो सकता।[31] जब ये तीनों पूर्ण होते हैं तब साध्य सध जाता है। आत्मा कर्ममुक्त हो, परमात्मा बन जाती है। जैन दर्शन भक्तियोग, ज्ञानयोग एवं कर्मयोग—इन तीनों को संयुक्त रूप में मोक्ष का मार्ग मानता है। सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र को क्रमशः भक्तियोग, ज्ञानयोग एवं कर्मयोग कहा जा सकता है। उत्तराध्ययन में मोक्षमार्ग के रूप में तप का भी उल्लेख हुआ है।[32] तप का अंतर्भाव चारित्र में ही हो जाता है। ❖❖

संदर्भ

1. नन्दी हारिभद्रीया वृत्ति, पृ. 75, शिष्टाचरितो ज्ञानाद्यासेवनविधिः।
2. उत्तराध्ययन, शांत्याचार्य वृत्ति, पत्र 499, आचारो-वेषधारणादिको बाह्यः क्रियाकलापः।
3. (क) स्थानांग वृत्ति, पत्र 64, आचरणमाचारो व्यवहारः।
   (ख) वही, पत्र 325, आचरणमाचारो ज्ञानादिविषयासेवनेत्यर्थः।
4. आचारांग भाष्यम्, 1 का आमुख पृ. 15, आचारः-परिज्ञा विरतिः संयमो वा।
5. आचारांगटीका, पृ. 7
6. प्रवचनसार (ले. आचार्य कुन्दकुन्द, बंबई, 1955), 1/7, चारित्तं खलुधम्मो।
7. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 478
8. दसवेआलियं, 1/1, धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
9. आयारो, 4/12
10. प्रशमरतिप्रकरण (ले. उमास्वाति, अगास, 1950), गाथा 146
11. शांतिपर्व, 37/8
12. मनुस्मृति, 1/85, अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे। अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः।।
13. Encyclopedia of Religion and Ethics, P. 405.
14. शांतिपर्व
15. Encyclopedia of Religion and Ethics, P. 405
16. Ibid, P. 406, The imposition of commands, by exercising the child in self-restraint and by inducing a habit of obedience, is the great means by which the early training of the will is effected, and the foundation of moral habit and good character established.

शेष पृष्ठ 36 पर

अनुभूति

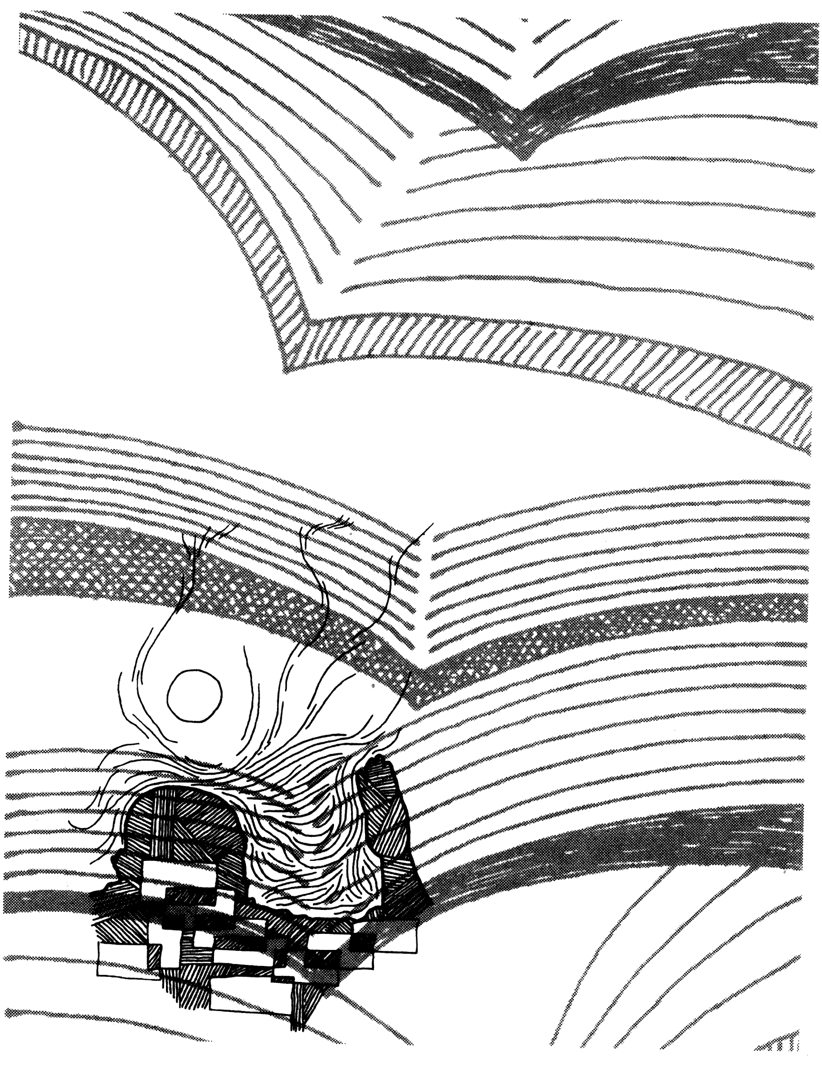

वहां—
हां, मुझे जाना है वहां—
क्षितिज से परम व्योम तक सजाए हैं
वाणी ने वाग्द्वार जहां—
मुझे जाना है वहां।

इस शब्द-यात्रा में
अर्थों के उत्तरीय
मात्राओं के मयूरपंख खोंसे
दिशा-काल व्यापी
भाषा का उच्चारण-पुरुष बन जाने का
यह कैसा छांदस-मुहूर्त है,
अंतरिक्ष में, भुवनों में।

लेकिन केवल अंतरिक्ष में ही क्यों?
केवल भुवनों तक ही क्यों?
उसके भी पार
उस पार के भी पार
जहां ध्वनियां, प्रकाश संवत्सर सब जाते हार,
जहां काल का भी नहीं है वारापार।
वहां
हां, मुझे जाना है वहां—

—नरेश मेहता

मैंने केवल उपालंभ ही नहीं दिया, वर्धापन भी किया है। अब मैं पिता-तुल्य, गुरु-स्थानीय हूं। तुम सब मेरे पुत्र हो, शिष्य हो। सबके प्रति मेरे मन में प्रगाढ़ प्रेम है। जब तुम सबका विनय और आत्मीय भाव देखता हूं तो मेरी आंखें गीली हो जाती हैं। अभी इन दिनों में चौधरी कुंभाराम आर्य आए थे। उनसे वार्त्तालाप हुआ। उस समय इन (महाप्रज्ञजी) की विनयपूर्ण मुद्रा और व्यवहार को देखकर चौधरीजी ने कहा—आप दोनों में जो अद्वैत है, ऐसा अद्वैत मैंने कहीं नहीं देखा। आज मैं क्या बताऊं? मैं अत्यंत प्रसन्नमन हूं। भारहीनता का अनुभव कर रहा हूं। मैं चाहता हूं, साधुसंघ में कोई प्रमादी न रहे। सभी साधु-साध्वियां कभी ध्यान, कभी स्वाध्याय, कभी कंठस्थ करें। सभी प्रसन्न, आनंद-निमग्न रहें। इतना कहकर विराम लेता हूं।

तस्माद् भूयो भद्रम्

युवाचार्यश्री महाश्रमण

'गुरुदेव तुलसी मानते रहे हैं कि व्यक्ति स्थाई नहीं होता, संघ स्थाई होता है। ठीक इसी तरह आचार्य भी स्थाई नहीं होते, किंतु आचार्य पद स्थाई होता है।' आचार्यश्री तुलसी की इस मान्यता में एक ओर जहां वैचारिक स्पष्टता और दृढ़ता परिलक्षित हो रही है, तो दूसरी ओर व्यावहारिक सरलता और सौजन्यता भी दिखाई दे रही है। जैसा उनका व्यक्तित्व था, हम उनके उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी में भी वही बात पाते हैं। अपने उत्तराधिकारी को अपने ही हाथों अनुशास्ता के आसन पर आरूढ़ करने के बाद आचार्यश्री तुलसी ने जो वक्तव्य प्रदान किया, अब वह ऐतिहासिक दस्तावेज बन गया है। अवसर-विशेष पर वही ऐतिहासिक दस्तावेज जैन भारती के पाठकों के लिए—

एक सृजनधर्मा आचार्य के रूप में गुरुदेव तुलसी का नाम सर्वमान्य रहा है। उनका व्यक्तित्व और कर्तृत्व एक ओर प्रभावशाली था तो दूसरी ओर प्रेरणादाई भी था। उनकी प्रशासनिक क्षमता अद्भुत थी। संघ-संचालन की महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियों के साथ ही साथ धर्मसंघ के आध्यात्मिक विकास के बारे में वे सदा सोचते रहते थे।

गुरुदेव तुलसी मानते रहे कि व्यक्ति स्थाई नहीं होता, संघ स्थाई होता है। ठीक इसी तरह आचार्य भी स्थाई नहीं होते, किंतु आचार्य पद चिरस्थाई होता है। इसीलिए वे आचार्य पद को महत्त्व देते थे, व्यक्ति को नहीं।

गुरुदेव तुलसी ने संभवतः लाडनूं में कार्तिक शुक्ला द्वितीया, विक्रम संवत् 2049 को यह घोषणा की—'मैं आचार्य हूं, सारा काम संभालता हूं, किंतु अब प्रशासनिक कार्य से मुक्ति लेना चाहता हूं। जैसे जयाचार्य ने अपने युवाचार्य मघवा को कार्यभार सौंप दिया था, वैसे ही मैं भी चाहता हूं कि अब प्रशासनिक काम युवाचार्य महाप्रज्ञ देखें।'

माघ शुक्ला सप्तमी, विक्रम संवत् 2050, सुजानगढ़ मर्यादा महोत्सव का अवसर। आचार्यश्री तुलसी ने प्रायः अकल्पित और अज्ञात घोषणा की। अपने ही श्रीमुख से उन्होंने युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। तेरापंथ धर्मसंघ की

यह एक अभूतपूर्व घटना थी। इस घोषणा के बाद गुरुदेवश्री तुलसी ने दिल्ली की ओर प्रस्थान कर दिया। विहार के दौरान मार्ग में मुख्य पड़ाव-क्षेत्र आया—जयपुर। गुरुदेव के सान्निध्य में अनेक बार साधु-साध्वियों की संगोष्ठी हुआ करती थी। जयपुर में भी साधु-साध्वियों की एक संगोष्ठी ग्रीनहाउस में आहूत की गई। इस संगोष्ठी में गुरुदेवश्री तुलसी ने संस्कृत में वक्तव्य दिया। वक्तव्य का मूल आधार था आचार्य पद का विसर्जन। वह वक्तव्य निम्नानुसार है—

'अस्ति आस्था प्रवर्धमाना। वयं जयपुरे समागताः अनेके लोकाः अनेके परिवाराश्च आयातवन्तः। नाहं तान् जानामि। तैः सर्वैरपि श्रद्धा प्रकटीकृता।

'अस्माकं संघेन प्रारम्भत एव प्रतिष्ठा प्राप्ता। अधुनाऽसौ विशेषतः सर्वेषाम् आकर्षण केन्द्रं संजातमस्ति। सर्वेषां मनसि एका धारणा सञ्जाता—एष संघः कार्यं कर्तुं समर्थः। कश्चित् तेरापन्थसंघस्य अनुयायी नापि स्यात् तथापि तस्य मनसि एनं प्रतिं आस्थाभावो विद्यते।

'भिक्षुरस्मिन्नेव संघे बभूव। आचार्यभिक्षुं प्रति यादृशी श्रद्धा अस्माकं संघे वर्तते, तादृशी कस्मिन्नपि संघे स्वगुरुं प्रति न दृश्यते। स महत् नक्षत्रमासीत्। एतादृशः महापुरुषः सहस्राब्द्यामेव कश्चिद् भवति। तस्य प्रज्ञा विलक्षणा आसीत्। स न प्राकृतपाठी आसीत्, न तेन संस्कृतमधीतम्, न च स हिन्दी भाषाविद्, तथापि प्रतिभा विलक्षणा आसीत्। तथा जातमासीद् अन्तर्दृष्टिजागरणम्। अद्भुता कार्यक्षमता। भिक्षोर्नाम अस्ति गङ्गायाः उद्गमस्रोतः। तस्मिन वयं सदा निष्णाता भवामः वरमिदम्। अस्मिन् वर्षे यज्जातं तन्मया कृतम् इति नाहं मन्ये। ममाभिमतमिदं—यज्जातं तत्र भिक्षोरेव काचिदज्ञातप्रेरणा। तत एव सञ्जातमिदं, नियत्या वा कारितमिदम्। मया आकस्मिकरूपेण एकः स्वप्नो दृष्टः। केन कल्पना कृता—एवं भविष्यति। न मया केनापि सह चर्चा कृता। येन सह किञ्चिद् आलोचितं स आत्मीय एव। एतस्मिन् कार्ये संवृत्ते सर्वत्र अतीव अनुकूला प्रतिक्रिया सञ्जाता। अस्माकं विरोधिशिरोमणिभिरपि प्रशंसितमिदम्। कल्ये एव राजस्थानप्रदेशस्य मुख्यसचिवः मीठालाल मेहता समागतः, तेनोक्तं—'भवता आदर्शः पुरस्कृतः'।

'आचार्यकाले मया यदपि कृतम्-उपालम्भः प्रदत्तः, प्रायश्चित्तं प्रदत्तं तद् उत्तरीकरणार्थम्। तेन केषाञ्चिन्मनसि ग्लानिरपि सञ्जाता स्यात् तदर्थमहं क्षमायाचनां करोमि। आचार्यकल्पा युवाचार्या अपि मया कदाचिदुपालब्धाः, परन्तु एतेषां विनयः नम्रतापूर्णव्यवहारश्च सर्वेषां शिक्षणीयः प्रशिक्षणीयश्च।

'न मया केवलम् उपालम्भ एव प्रदत्तः वर्धापनमपि विहितम्। इदानीमहं पितृस्थानीयः गुरुस्थानीयोऽस्मि। यूयं सर्वे मम पुत्राः शिष्याश्च। सर्वान् प्रति मम मनसि प्रगाढं प्रेम विद्यते। यदा युष्माकं सर्वेषां विनयम् आत्मीयभावं च पश्यामि, मम चक्षुषी आर्द्रीभवतः। एषु दिनेषु 'चौधरी कुम्भाराम आर्यः' आयातः। वार्तालापः कृतः। तत्र एषां विनयपूर्णां मुद्रां व्यवहारं च दृष्ट्वा तेन प्रोक्तं—कियद् अद्वैतम्? नैतादृशम् अद्वैतं मया क्वापि दृष्टम्। अद्य किमहं वच्मि? अत्यन्तप्रसन्नमना अस्मि। भारहीनताम् अनुभवामि। अहं वाञ्छामि—साधुसंघे कोऽपि प्रमादी न तिष्ठेत्। कदाचित् ध्यानं, कदाचित् स्वाध्यायं, कदाचित् स्मृतिं कुर्वाणाः सर्वेऽपि तिष्ठेयुः। सर्वे प्रसन्नाः आनन्दनिमग्नास्तिष्ठेयुः इत्युक्त्वा विरमामि।

'अन्यच्च—इदानीम् अयं महाप्रज्ञः आचार्यः। सर्वाधिकारसम्पन्नोऽयम्। सर्वे साधवः सर्वा साध्व्यश्च मत्तोऽप्यधिकं विनयभावं, श्रद्धाभावं, भक्तिभावं, अनुशासनभावं च एनं प्रति रक्षेयुः। नास्मिन् विषये मम पुनः कथनावसरः समागच्छेद्, एषाऽस्माकं गौरवमयी परम्परा विद्यते।'

'हम जयपुर में आ गए हैं। लोगों में श्रद्धा प्रवर्धमान है। अनेक लोग और अनेक परिवार आए। मैं उन सबको जानता भी नहीं हूं, फिर भी उन्होंने गहरी श्रद्धा प्रकट की है।

'हमारे धर्मसंघ ने प्रारंभ से ही प्रतिष्ठा प्राप्त की है। आज तो इसके प्रति विशेष आस्था का भाव देखा जा रहा है, सबके आकर्षण का केंद्र बन रहा है। सबके मन में एक धारणा बन गई कि यह संघ कार्य करने में समर्थ है। कोई तेरापंथ का अनुयाई न भी हो, फिर भी उसके मन में इस संघ के प्रति आस्था का भाव दिखाई दे रहा है।

'आचार्य भिक्षु इसी संघ में हुए थे। आचार्य भिक्षु के प्रति जैसी श्रद्धा हमारे संघ में है, वैसी श्रद्धा किसी भी संघ में अपने गुरु के प्रति देखने को नहीं मिलती। आचार्य भिक्षु एक महान नक्षत्र थे। ऐसा महापुरुष सहस्राब्दी में ही कोई-कोई होता है। उनकी प्रज्ञा विलक्षण थी। वे न प्राकृत जानते थे, न उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया और न ही वे हिंदी भाषा जानते थे। फिर भी उनकी प्रतिभा विलक्षण थी। लगता है, उनमें अंतर्दृष्टि का जागरण हो गया था। उनकी कार्यक्षमता अद्भुत थी। भिक्षु का नाम गंगा का उद्गम

स्रोत है। उसमें हम सदा निष्णात होते रहें, यही श्रेयस्कर है। इस वर्ष जो (आचार्य पद का विसर्जन) हुआ, वह मैंने किया, ऐसा मैं नहीं मानता। मेरा यह अभिमत है कि जो हुआ, उसमें आचार्य भिक्षु की ही अज्ञात प्रेरणा रही है। इसलिए यह सारा काम हुआ है, अथवा नियति ने यह कार्य करवाया है। मैंने अचानक एक स्वप्न देखा। किसने कल्पना की थी कि ऐसा होगा। मैंने किसी के साथ इस बारे में चर्चा भी नहीं की। जिसके साथ कुछ विचार-विमर्श किया, वह आत्मीय व्यक्ति ही है। यह जो कार्य मैंने किया है, इसकी सर्वत्र अनुकूल प्रतिक्रियाएं प्राप्त हो रहीं हैं। हमारे विरोधी लोग भी इस कार्य की प्रशंसा कर रहे हैं। कल ही राजस्थान प्रदेश के मुख्य सचिव मीठालाल मेहता आए थे। उन्होंने कहा—'आपने एक आदर्श प्रस्तुत किया है।'

'मैंने अपने आचार्यकाल में जो-कुछ भी किया, किसी को उपालंभ दिया, किसी को प्रायश्चित्त दिया—वह सब मैंने विशोधन के लिए किया था। उससे किसी के मन में ठेस पहुंची होगी, इसलिए मैं क्षमायाचना करता हूं। आचार्य तुल्य युवाचार्य को भी मैंने कभी-कभी उपालंभ दिया, किंतु इनका विनय और नम्रतापूर्ण व्यवहार सबके लिए सीखने योग्य है।

'मैंने केवल उपालंभ ही नहीं दिया, वर्धापन भी किया है। अब मैं पिता-तुल्य, गुरु-स्थानीय हूं। तुम सब मेरे पुत्र हो, शिष्य हो। सबके प्रति मेरे मन में प्रगाढ़ प्रेम है। जब तुम सबका विनय और आत्मीय भाव देखता हूं तो मेरी आंखें गीली हो जाती हैं। अभी इन दिनों में चौधरी कुंभाराम आर्य आए थे। उनसे वार्त्तालाप हुआ। उस समय इन (महाप्रज्ञजी) की विनयपूर्ण मुद्रा और व्यवहार को देखकर चौधरीजी ने कहा—आप दोनों में जो अद्वैत है, ऐसा अद्वैत मैंने कहीं नहीं देखा। आज मैं क्या बताऊं? मैं अत्यंत प्रसन्नमन हूं। भारहीनता का अनुभव कर रहा हूं। मैं चाहता हूं, साधुसंघ में कोई प्रमादी न रहे। सभी साधु-साध्वियां कभी ध्यान, कभी स्वाध्याय, कभी कंठस्थ करें। सभी प्रसन्न, आनंद-निमग्न रहें। इतना कहकर विराम लेता हूं।

'एक बात और, अब आचार्य महाप्रज्ञजी हैं, ये सर्वाधिकारसंपन्न हैं। सभी साधु-साध्वियां मेरे से भी अधिक विनयभाव, श्रद्धाभाव, भक्तिभाव और अनुशासन का भाव इनके प्रति रखें। इस विषय में मुझे पुनः कहने का अवसर मत देना। यह हमारी गौरवमयी परंपरा है।'

व्यक्ति स्थाई नहीं होता। जो कल था वह आज नहीं और जो आज है, वह कल नहीं। गुरुदेव तुलसी ने व्यक्ति से अधिक संघ को महत्त्व दिया। उन्होंने अपने काव्य—'संघषट्त्रिंशिका' में लिखा है—

संघतुलोत्तीर्णा ये, ते हि लभन्ते स्वसाध्यसंसिद्धिम्।
तस्माद् भूयो भद्रं, भूयादनघाय धर्मसंघाय।।

जो संघ की तुला में उत्तीर्ण हो जाते हैं—संघीय साधना की कसौटी पर खरे उतरते हैं, वे ही अपने लक्ष्य की सम्यक् सिद्धि कर पाते हैं। इसलिए ऐसे पवित्र धर्मसंघ का निरंतर कल्याण हो। ❖

मनुष्य की बड़ी लाचारी है और बड़ी शक्ति है कि वह छोटे-से निज से संतुष्ट नहीं रह सकता। उसे निजी भी कुछ चाहिए और वह निजी या अपना बनाने के लिए बराबर ललकता रहता है। बच्चा भी अकेलापन नहीं सहता और सिद्ध योगी भी एकांत केवल परात्पर से मिलने के लिए घर के रूप में स्वीकार करता है। इस पर की चाह या दूसरे की चिंता मनुष्य के स्वभाव में निहित है। वह जितना अपनापन पाना चाहता है उतना ही देना चाहता है, बांटना चाहता है अपने पास जो कुछ भी है, क्योंकि उसे लगता है—अकेले उसका कुछ नहीं और अपने को बंटाने से सब-कुछ अपना लगने लगता है। यह वृत्ति ही मनुष्य की प्रत्येक क्रिया के मूल में है। दूसरी बात यह है कि मनुष्य भय को स्वीकार नहीं करता, करता भी है तो बस, कुछ समय के लिए। भय का शासन मनुष्य पर अधिक दिन नहीं चलता। हां, प्यार की हुकूमत ऐसी है जो आदमी पर छा जाती है क्योंकि हुक्म देने वाला खुद हुक्म लेने वाले के अधीन हो जाता है और उस स्थिति में ब्रजभाषा की काव्य-पंक्ति उद्धृत करूं :

दोऊ परैं पइयां, दोऊ लेत हैं बलैयां
उन्हें भूलि गईं गइयां, इन्हें गागर उठाइवो।

दोनों एक-दूसरे के पांव पड़ते हैं, एक-दूसरे पर अपने को न्योछावर करते हैं। दोनों अपनी खुदी भूल जाते हैं, अपनी भूमिका भूल जाते हैं। कन्हैया भूल जाते हैं—गाय चराने आए थे और राधा भूल जाती है—हम तो गाय दुहने आई थीं।

—पं. विद्यानिवास मिश्र

स्वदेह की ममता के साथ स्वदेश का अभिमान उसके चरणों को गति देता है। देशाभिमान तो हमारे यहां कितना मोटा शब्द बन गया है! पर, ऐसा देशस्थ मनुष्य अपने देश के लिए सारे मनुष्यों से द्रोह तक कर बैठता है। देश व काल के इन बंधनों से जब ऊपर आता है, तभी मनुष्य आत्मस्थ बनता है। फिर उसका हर कदम सबों के लिए कल्याणकारी होता है। बुद्ध इसे ब्रह्मविहार कहते हैं। देह में रहते हुए जो देह की कामना या देश-काल की मांग से परे रहकर जो सत्य के अनुसंधान हेतु आगे बढ़ता है, उसका कदम कभी गलत नहीं पड़ता।

भूलैं को घर लावैं

मकरंद दवे

मनुष्य का मन यक्ष के धन जैसा है। एक मनुष्य पर यक्ष प्रसन्न हो गया और उसे सोने की मोहरों से भरा एक कलश दे दिया। मनुष्य खुशी-खुशी घर आया, पर देखा तो कलश पूरा नहीं, पौना ही भरा था। यह देखकर उसका मन खिन्न हो गया। पर, दूसरे ही पल उसने सोचा : इतना-सा भाग ही खाली है, इसे पूरा करते कितनीक देर लगेगी! उसने उतनी स्वर्ण-मोहरें कमाने के लिए परिश्रम करना शुरू किया। पर आश्चर्य यह कि वह रात को उस कलश को लबालब पूरा भरता और सुबह देखता तो कलश पहले की तरह ही पौना भरा मिलता। फिर तो कलश को पूरा भरने के लिए वह मनुष्य भारी मेहनत करने लगा। उसकी नींद जाती रही। रात-दिन स्वर्ण-मोहरें प्राप्त करने की चिंता में ही मन लगा रहता। पर, सारे प्रयत्न बेकार रहे।

बाद में उसे एक संत मिले। उन्होंने उससे व्यग्रता, व्यथा, परेशानी का कारण पूछा। उसने पूरा न भर पाने वाले कलश के बारे में सारी बात बताई। संत बोले : 'भाई, वह यक्ष का धन है, कभी पूरा नहीं होगा, इसलिए कलश वापिस लौटा दे।' सलाह मान कर धन का कलश वापिस यक्ष को लौटा आने के बाद वह मनुष्य निश्चिंत होकर सोने लगा।

क्या हमारा मन भी ऐसा आधा-अधूरा स्वर्ण-कुंभ लेकर नहीं बैठा? इस कुंभ को पूरा भरने के लिए क्या वह हमसे दौड़-भाग नहीं कराता? मन का स्वभाव है कि उसे चालू परिस्थिति से संतोष नहीं मिल पाता—'इतना जरा हो जाए न! इतना जरा मिल जाए न!' ऐसी इच्छापूर्ति की स्वर्ण-मोहरें प्राप्त करने में वह खटता रहता है। पर, इतना मिल जाने के बाद यही इच्छा दूसरे लिबास में उसे दूसरी दिशा की ओर इंगित करती है। उसे जो परिस्थिति प्राप्त हुई है, उसी में से आनंद का धन प्राप्त करने की युक्ति मनुष्य जानता नहीं। मन का स्वभाव न बदले, तो उसके पास से यक्ष का कलश चला न जाए, तब तक परिस्थिति चाहे जितनी सुंदर व सानुकूल हो, पर अभाव का शूल तो चुभता ही रहेगा। जो मन भूला हुआ है, भटका हुआ है, उसका कहा मान कर तो मनुष्य बरबाद हो जाता है। मन के उद्वेग से बाहर आकर वह स्वस्थता से विचार नहीं कर सकता। यदि वह अपने मन को समझा सके तो उसका कुंभ चाहे जितना खाली हो, फिर भी उसमें पूर्णता का आनंद छलके बिना नहीं रहे। कबीर ने एक पद में यही बात सुंदर ढंग से कही है :

अवधू, भूलै को घर लावै
सो जन हमको भावै।
घर में बसत वस्तु भी घर है
घर ही वस्तु मिलावै,
कहे कबीरा सुनो हो साधु
ज्यों का त्यों ठहरावै।

अपने घर में रहकर ही साधना करने का इस पद में उपदेश है, ऐसा बहुत लोग मानते हैं। पर, जिस महापुरुष

ने—**जो घर फूंकै आपना वो चले हमारे साथ**—का उद्घोष किया था, उसके मन में कोई स्थूल घर तो नहीं होगा। मनुष्य जिसे पाना चाहता है, वह वस्तु तो उसके मन में ही है। इतना ही नहीं, उसका मन ही वह वस्तु है। उसका मन ही बाहर की किसी मनपसंद वस्तु पर अपना रंग जमाकर उसे अपने जैसा बना लेता है। बाकी तटस्थ रूप से वस्तुगत रीति से देखने पर उसमें यह रस कहां से होगा? इच्छा का मारा दौड़-भाग करने से पहले मनुष्य मन को जरा स्थिर करके देखे तो उसे इस सत्य का भान होगा। पर, मन को **ज्यों का त्यों ठहरावै** अर्थात् जहां है वहीं खड़ा रखना बहुत कठिन कार्य है। इसीलिए तो **भूलै को घर लावै**—मन को समझा कर, स्वस्थ करके, शुद्ध करके स्थिर करना है। मन वर्तमान में रह नहीं सकता। या तो भूतकाल में चुभे कांटे निकालता होता है, या भविष्य के गुलाब सजाता होता है। पर गुलाब की अभिलाषा में ही कांटा होता है, यह वह नहीं समझता। उसके सामने वर्तमान समय जो वैभव सजाए बैठा है, उसकी ओर मनुष्य दृष्टिपात नहीं करता, अतएव वह भावी का वैभव भी खो बैठता है। एक संत की मृत्यु के बाद उसके शिष्य से किसी ने पूछा :

'तुम्हारे गुरु सबसे अधिक महत्त्व किस वस्तु को देते थे?'

'जिस क्षण में जो कार्य करते होते, उसे।' जवाब मिला।

ऐसे क्षण के कार्य का हिसाब जो रखता है उसका स्वर्ण-कलश कभी खाली नहीं रहता। **भूलै को घर लावै**—जो भूले हुए मन को वापिस मूल स्थिति में ला सकता है, उसके सामने आनंद की किरणें बरसती ही रहती हैं। ग्रीक दार्शनिक डायोजिनिस का एक जाना-पहचाना दृष्टांत है। डायोजिनिस इतना अधिक आत्ममग्न, आनंद-भरपूर था कि उसे अपने लिए कोई घर बनाने की जरूरत नहीं थी। कारण, रैदास ने कहा है कि—**अब हम खूब वतन घर पाया**—इस तरह उसने अपना सच्चा घर प्राप्त कर लिया था। सिकंदर उससे मिलने आया। डायोजिनिस उस समय प्रातःकालीन कोमल धूप का आनंद लेता बैठा था। सिकंदर ने उससे कुछ मांगने को कहा। यह बोलते समय डायोजिनिस पर सिकंदर की छाया पड़ रही थी और खरा सोना बरसाने वाली धूप अवरुद्ध हो गई थी। डायोजिनिस ने मांग करते हुए कहा : 'तुझे देना ही है तो इतना कर, जरा एक तरफ हट जा और यह प्रातःकालीन धूप आने दे।'

क्या हम सबों के मन पर कहीं सिकंदर की छाया नहीं पड़ी? और, इसी से क्या हम उगते सूर्य की धूप नहीं गंवा देते? इसी क्षण तो विश्व-प्रकृति आनंद की किरणों से मेरे हृदय-कुंभ को छलका रही है। पर मेरी नजर में इस संसार की सत्ता, धन, ऐश्वर्य की कामना भरी है और जो वस्तु सहज प्राप्त है, उससे मुझे सुख नहीं मिल पाता। कभी मानो सब-कुछ मिल गया, ऐसी परिपूर्णता लगती है, तभी भविष्य में यह सब लुट जाएगा—ऐसी आशंका और भय का साया पड़ता है और वर्तमान की किरणें काजल बन जाती हैं। मनुष्य न अपने में जी सकता, न प्राप्त क्षण में टिक सकता, वहीं से उसकी अवदशा शुरू हो जाती है। **भूलै को समझावै**—उसके मन पर दूसरों की जो परछाईं पड़ती है, उसे हटा दें तो मनुष्य सुखी हो जाए।

डायोजिनिस और सिकंदर के प्रसंग की उपर्युक्त बात बहुत विख्यात है। पर डायोजिनिस ने अपने भूले हुए मन को किस तरह समझाया था, वह घटना इतनी प्रसिद्ध नहीं। सिकंदर से एक तरफ हट जाने को कहने वाले डायोजिनिस ने अपने मन से ही कामना की परछाईं दूर कर दी थी। यही डायोजिनिस एक बार पत्थर की मूर्ति से भीख मांगते हुए खड़ा था। एक युवक ने देखा कि डायोजिनिस जैसा ज्ञानी पुरुष यों मूर्ति के पास भीख मांगता घंटों से खड़ा है! उसे आश्चर्य हुआ। डायोजिनिस के पास आकर उसने पूछा :

'आपको पता तो है न कि यह पत्थर की मूर्ति है?'

'हां।'

'फिर भी आप इससे भीख मांग रहे हैं?'

'हां।'

'तो क्या यह पत्थर की मूर्ति आपको भीख देगी?'

'यह कुछ नहीं देगी, यह मुझे पता है। पर, किसी मनुष्य से कुछ मांगने पर वह मुझे कुछ न दे, तब मन को कैसे शांत रखा जाए, इसका मैं अभ्यास कर रहा हूं।

अपने मन को समझाने की, शांत रखने की युक्ति जिसे आ गई, वह प्रकृति की गुलामी से मुक्त हो गया। यह समझ कोई जबरन, लाचारी से, मन मार कर रहने से नहीं मिलती। यह तो स्वयं का खुद पर अत्याचार है। भीतर कुंडली मारकर बैठी इच्छाएं जहरीला डंक मारने से नहीं चूकतीं। दमन और ऊर्ध्वीकरण (सप्रेशन व सब्लिमेशन) के बीच जमीन-आसमान जितना अंतर है। वृत्तियों का जबरदस्ती दमन कहीं से मुंह बाहर निकालते सांप को लकड़ी मार कर दीमकों की बांबी में डाल देने जैसा है। एक

जगह से वह अदृश्य होगा तो दूसरी जगह से मुंह निकाले बिना नहीं रहेगा। पर बीन बजा कर उस सांप को बांबी से बाहर निकालने और उसकी जहर की थैली को ही निकाल लेने की क्रिया में सच्चा कौशल रहता है। संतगण इसे अपने अंतर का निर्वसन करने की साधना कहते हैं। **समजी समजीने समरथ थावुं**—उनकी अंतर्वाणी है। मनुष्य में रहने वाली कामनाओं का विसर्जन किस तरह हो सकता है? जब वह आप्तकाम बने, पूर्णकाम बने, अपने अंदर से ही उसे आनंद रस से छलकता अमृत-कुंभ मिल जाए। तब वह बाहर भटकने नहीं जाता, किसी वस्तु या व्यक्ति के सामने आशा की टकटकी लगाकर नहीं बैठता।

ऐसे आप्तकाम के आनंद का दीपक किसी बाहर की सामग्री से नहीं जलता। वे जहां जाते हैं, वहां नफे-नुकसान का बाजार कोलाहल नहीं करता। पर खिलाड़ी साथियों की मौज मची रहती है। कबीर ने कहा है :

हम वासी वा देश के, जहां पारब्रह्म का खेल।
दीपक जरै अगम्य का, बिन बाती बिन तेल।।

जहां सदैव पारब्रह्म का खेल चल रहा हो, उस देश के निवासी कितने होंगे? सबसे पहले तो मनुष्य देहस्थ होता है। अपनी देह का पोषण, रक्षण व संस्करण करने से ऊपर नहीं आता। इसके बाद देह तो केंद्र-स्थान पर रहती है, पर घेरा बड़ा हो जाता है और मनुष्य देशस्थ बन जाता है। स्वदेह की ममता के साथ स्वदेश का अभिमान उसके चरणों को गति देता है। देशाभिमान तो हमारे यहां कितना मोटा शब्द बन गया है! पर, ऐसा देशस्थ मनुष्य अपने देश के लिए सारे मनुष्यों से द्रोह तक कर बैठता है। देश व काल के इन बंधनों से जब ऊपर आता है, तभी मनुष्य आत्मस्थ बनता है। फिर उसका हर कदम सबों के लिए कल्याणकारी होता है। बुद्ध इसे ब्रह्मविहार कहते हैं। देह में रहते हुए जो देह की कामना या देश-काल की मांग से परे रहकर जो सत्य के अनुसंधान हेतु आगे बढ़ता है, उसका कदम कभी गलत नहीं पड़ता। जो कालातीत है और नित्यमुक्त है, उसे काल में प्रकट करने का यह एक ही मार्ग है। यह दृष्टि, यह कदम, यह मार्ग अपने अंदर ही खोज करने से मिलता है। **अवधू, भूलै को घर लावै।** आश्चर्य तो यह है कि मनुष्य जैसे-जैसे अपने भीतर और बाहर अधिक-से-अधिक प्राप्त करता जाता है, वैसे-वैसे बाहर के प्रदेश में उसकी गति अकुंठित बनती जाती है। मनुष्य देह में बद्ध है, देशकाल में बद्ध है और जितना उसमें रहता है, उतना स्वयं बद्ध बनता है। पर, ब्रह्म को तो कहीं भी बाधा नहीं। जो अपने भीतर विद्यमान ब्रह्मपुर को पा गया, उसकी गति सदैव अबाधित रहती है, उसका मन सदैव प्रसन्न रहता है। तुलसीदास कहते हैं :

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
रामराज नहिं काहुहिं व्यापा।।

रामराज में रहने वाले किसी को भी देह के, देश के, या जगत-संसार के परिताप सहन नहीं करने पड़ते। इस राम-राज्य को किसी स्थूल सीमारेखा में डाल दूंगा तो इसका अंत आ जाएगा। आज भी इस राम-राज्य में प्रवेश करने से हमारे विरुद्ध कोई मनाही-आदेश नहीं देता। यह अलग बात है कि हम खुद ही उसे भूल कर भटक रहे हैं। जो नित्य आनंद की नगरी है, उसमें रहने का मन किसका नहीं होता? पर हम पहले यक्ष के कलश को लेकर इस नगरी में रहना चाहते हैं, जो हो पाना संभव नहीं। गीता कहती है : **यजन्ते यक्ष-रक्षांसि राजसाः।** राजसी लोग यक्ष और राक्षस को पूजते हैं। पर, राम की नगरी में तो यक्ष का लोभ या राक्षस का क्रोध टिक सकते नहीं। अतः यक्ष के कुंभ को फेंकना ही पड़ता है। पर, कहने मात्र से तो कुछ नहीं छूटता। मन की विलक्षणता बराबर बताते हुए कबीर ने कहा है : **जहां-जहां बरजो या मन को, तहां-तहां उठि धावै** यानी इस मन को जहां न जाने की बात कहता हूं, वहां तो वह पहले उठकर भागता है। जीवन की साधना का यह बहुत कठिन प्रश्न है। महाभारत में धर्मराज से यक्ष ने प्रश्न पूछे थे, उनसे भी बहुत कठिन। तो क्या करें? कबीर जैसे जीवननिष्ठ ने ही इसका उत्तर दिया है और हमें उसे जीवन के द्वारा प्राप्त कर लेना चाहिए। मन को अपना अत्यंत अंतरंग मित्र मानते हुए कबीर ने उसे समझाने में कुछ भी बाकी नहीं रखा : **मन, तू क्यों भूला रे भाई!** और **मन, तोहि किस बिध कर समझाऊं**—कहते हुए उसने समझ के दरवाजे धीरे-धीरे खोले हैं। मन को दुश्मन मानते हुए जिन्होंने भी जंग छेड़ी है, उनकी जंग का अंत तक पार नहीं आता। कारण कि मन कोई अलग नहीं, मनुष्य का अपना ही साया है। स्वयं की अंतर्निरीक्षण और परीक्षण से पड़ताल की जाए तो पूरा पता चले। मन के स्वरूप का निरूपण करते हुए कबीरदास कहते हैं :

संतो, मन चीन्हे मन पाया।
तन ही मन है निरगुण मन है, मनहि निरंजन राया।
आदि हता सो अब है संतो, सतगुरु भेद बताया।।
कहे कबीर कंचन के भूषण, एक हुआ जब ताया।।

मन का यह मूलभूत स्वभाव प्रकट हो जाने के बाद कुबेर का भंडार तो एक तरफ रहा, किरतार के भजन की भी भूख नहीं रहती। ऐसे आत्माराम संत के पीछे-पीछे स्वयं हरि चले आते हैं। कबीर के ही कंठ से इस परम-तृप्ति का उद्गार सुनाई देता है :

मन ऐसो निर्मल भयो, जैसो गंगा नीर।
हरि लागा पाछै फिरै, कहत कबीर-कबीर।।

अपने मन के साथ संवाद साधने वाले और फिर उसे निर्मल प्रवाह में बहा देने वाले ऐसे संत सहजभाव से अन्य को भी साथ ले जाते हैं। ऐसे संत प्रिय क्यों नहीं होंगे?

अवधू, भूलै को घर लावै।
सो जन हम को भावै।। ❖

अनुवाद : **रामनरेश सोनी**

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

(ISO 9001 : 2000 प्रमाणित संस्था)

हे प्रभो! यह तेरापंथ

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

दूरभाष : 22357956, 22343598, फैक्स : 033-22343666

उपासक प्रशिक्षण शिविर 10 अगस्त, 2006 से

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा द्वारा इस वर्ष उपासक प्रशिक्षण शिविर 10 अगस्त से 18 अगस्त, 2006 तक भिवानी (हरियाणा) में पूज्यवर के सान्निध्य में आयोजित किया जा रहा है। इस शिविर में प्रवेश की अर्हता इस प्रकार है—

* आयु सीमा 25 से 60 वर्ष।
* जैन धर्म एवं तेरापंथ धर्मसंघ के प्रति आस्थावान।
* अर्हत वंदना, परमेष्ठी वंदना, पंचपद वंदना, पचीस बोल, प्रतिक्रमण कंठस्थ। (इनकी परीक्षा के पश्चात् ही प्रवेश दिया जायेगा। अतः स्थानीय स्तर पर इनकी तैयारी अपेक्षित है।)
* चयनित गीतों का लयाभ्यास
  1. प्रयाण गीत (प्रभो तुम्हारे...), 2. श्रद्धा विनय समेत..., 3. अणुव्रत गीत (नैतिकता की...), 4. प्रेक्षाध्यान गीत (आत्म-साक्षात्कार...), 5. तेरापंथ गीत (प्रभो! यह तेरापंथ महान...)
* परिषद में बोलने एवं गाने की क्षमता अथवा उनके विकास की संभावना।
* स्वस्थ एवं श्रमशील, संयम एवं सादगी-प्रधान जीवन-शैली का अभ्यासी।
* प्रतिवर्ष संघ-सेवा के लिए दो-तीन सप्ताह का समय देने की स्थिति।
* पुरुष एवं महिलाएं, दोनों इस श्रेणी में सम्मिलित हो सकते हैं।

नोट : शिविर में आवास एवं भोजन की व्यवस्था निःशुल्क रहेगी। अधिक जानकारी के लिए उपासक श्रेणी के राष्ट्रीय संयोजक श्री निर्मल नौलखा से 9314662423 अथवा राष्ट्रीय सह-संयोजक श्री राजेंद्र सेठिया से 9414509906 नंबरों पर संपर्क कर सकते हैं।

'आचार्य भिक्षु के त्याग, संयम-निष्ठा, क्षमाशीलता, विनम्रता और सत्यनिष्ठा को मैंने समझने और जीने का प्रयास किया। जिन-शासन का अर्थ है—अनेकांत का दृष्टिकोण। सौभाग्य से समन्वय की आंख से देखने की वह कला मुझे मिली। तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षित होने का अर्थ है—आत्मानुशासन का प्रयास और स्वेच्छा-कृत विनम्रता का विकास। महानता के ये ही दो स्रोत हैं। सौभाग्य से ये निसर्गतः मुझे मिले।' महानता के इन्हीं स्रोतों ने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की आत्मा को ऐसा वृत्त बना दिया जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, केंद्र सर्वत्र है।

परिधि नहीं; सर्वत्र केंद्र

समणी सत्यप्रज्ञा

महान आत्माएं एक ऐसा वृत्त होती हैं जिनकी परिधि कहीं भी नहीं होती और केंद्र सर्वत्र होता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी एक ऐसी ही आत्मा का अभिधान हैं। वे कहते हैं—'मस्तिष्क में ऐसा तंत्र है जो आदमी को आदमी से ही नहीं, प्राणी-मात्र से जोड़ता है। यह अभिन्नता की खोज संपूर्ण मस्तिष्कीय प्रकोष्ठों की जागृति से ही संभव बन पाती है।' संपूर्ण मस्तिष्कीय तंतु एक साथ किस रूप में झंकृत होते होंगे, किसी महामानव के—जब वह पिंड में ब्रह्मांड और ब्रह्मांड में पिंड के दर्शन करता है, आत्मा में परमात्मा और परमात्मा में आत्मा का साक्षात् करता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी औपचारिक स्तर से तो 'तेरापंथ धर्मसंघ' के अधिशास्ता हैं। पर, उनकी करुणा किसी जाति, देश या काल की परिधि को नहीं जानती। प्राणी-मात्र के साथ तादात्म्य उनके अस्तित्व की आधार-भूमि है। उनका अणु-अणु अहिंसक चेतना का आकार है और इसीलिए संपूर्ण जन-मानस पर उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व का वशीकरण-सा हो रहा है। विनय, समर्पण और कृतज्ञता की भावभूमि से सारी उपलब्धियों का श्रेय प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं—'जैन धर्म, आचार्य भिक्षु, जयाचार्य और आचार्य तुलसी के चिंतन और मनन को विश्व तक पहुंचाने का श्रेय मुझे मिला। व्यक्ति से विश्व तक, पिंड से ब्रह्मांड तक समाधान की बात पहुंची—गुरुदेवश्री तुलसी के चिंतन व मेरे सौभाग्य का यह फलित है। दीक्षा के बाद पूज्य कालूगणी और आचार्य तुलसी का जो सिंचन मुझे मिला, कह सकता हूं—कई जन्मों तक पोषण देगा। आचार्य भिक्षु के त्याग, संयम-निष्ठा, क्षमाशीलता, विनम्रता और सत्यनिष्ठा को मैंने समझने और जीने का प्रयास किया। जिन-शासन का अर्थ है—अनेकांत का दृष्टिकोण। सौभाग्य से समन्वय की आंख से देखने की वह कला मुझे मिली। तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षित होने का अर्थ है—आत्मानुशासन का प्रयास और स्वेच्छा-कृत विनम्रता का विकास। महानता के ये ही दो स्रोत हैं। सौभाग्य से ये निसर्गतः मुझे मिले।' महानता के इन्हीं स्रोतों ने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की आत्मा को ऐसा वृत्त बना दिया जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, केंद्र सर्वत्र है।

पावन जन्मोत्सव
(आषाढ़ कृष्णा तेरस : 23 जून)
हर्षाभिवादन

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के प्राणों के प्रकंपनों का तार प्राणी-मात्र से जुड़ा है। उनके साहित्य व विचारों के माध्यम से परोक्ष परिचितों की संख्या लाखों में है। नैतिकता, ईमानदारी व अहिंसा में विश्वास रखने वाली विशाल मानव-जाति के लिए वे प्रेरणा-पुंज हैं। तेरापंथ धर्मसंघ की तो वे आत्मा ही हैं। संपूर्ण धर्मसंघ उनका शरीर है।

धर्मसंघ के साथ तादात्म्य की चेतना का विकास करने के लिए आचार्यश्री तुलसी ने कर्तव्य षट्‌त्रिंशिका में

लिखा—

'गणोऽयमहमेवास्मि, अहमेव गणोऽस्त्ययम्।
ऐक्यं ममास्य चान्योन्यं, चिन्तनीयमिति ध्रुवम्।।' (1)

यह गण मैं ही हूं, मैं ही यह गण है। मेरे और गण के परस्पर इस ऐक्य का निश्चित रूप से चिंतन करना चाहिए। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इस एकता को जीया। गण की आत्मा पर विचार व्यक्त करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने भिक्षु-गीता में लिखा—'आचार्यो हि गणस्यात्मा' (1.39) आचार्य गण की आत्मा है। आचार्यवर के आत्म-प्रदेश सारे संघ में फैले हुए हैं। यह अनुभूति व्यक्त हुई संघ के अंतरंग सदस्यों की क्षेत्रीय दूरी को ध्यान में रखते हुए—'क्षेत्रीय दृष्टि से कई साधु-साध्वियां लंबे समय से दूर हैं। पर, क्षेत्रीय दूरी को दूरी न मानें। जो जिसके हृदय में स्थित है वह दूर होते हुए भी दूर नहीं है। वह सदा निकट ही है। दूर और निकट शब्द वहां कोई महत्त्व नहीं रखते।' इसी प्रसंग में दार्शनिक पुट देते हुए उन्होंने कहा—'इस बात को नहीं भूलना है कि **संघ की विशाल काया एक है।** जैन दर्शन आत्मा को शरीरव्यापी मानता है, नैयायिक-वैशेषिक आदि आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं। अनेकांत की दृष्टि से शरीरव्यापी आत्मा व समुद्घात की दृष्टि से सर्वव्यापी आत्मा—दोनों का समन्वय हो जाता है। **संघ सर्वव्यापी है। आचार्य के आत्म-प्रदेश उसमें पूरी तरह से फैले हुए हैं।** इसलिए दूर-निकट की भाषा ही सही नहीं। हम जो भी कार्य कर रहे हैं, संघ का कार्य कर रहे हैं। सबके अणु-अणु में आचार्य भिक्षु का शासन और अनुशासन विद्यमान है।' आत्म-प्रदेशों की इस व्यापकता की प्रेरणा देते हुए उन्होंने कहा—'व्यापकता सुख है। संकीर्णता में समस्या पैदा होती है। हमें वह आंतरिक निर्माण करना है जो व्यापकता को संभाल सके। आचार्यश्री तुलसी का दृष्टिकोण बहुत व्यापक था। योग्यता के विस्तार हेतु वे फरमाते—एक नथमल से काम नहीं चलेगा। पचासों नथमल तैयार करो। आचार्य भिक्षु की भाषा में—हर व्यक्ति आचार्य बनने की अर्हता प्राप्त करे। पद के योग्य तो हर व्यक्ति बने पर पद की आकांक्षा न करे।' व्यापकता का यह सुख सूक्ष्म जगत के प्रकंपनों की पकड़ मांगता है।

सामान्यतया व्यक्ति स्थूल जगत में जीता है। प्रत्यक्ष की दृश्य दुनिया उसे प्रभावित करती है। तेरापंथ धर्मसंघ के महाकुंभ कहे जाने वाले 'मर्यादा महोत्सव' के अवसर पर संघीय अंतरंग परिषद आचार्यवर की प्रत्यक्ष सन्निधि चाहती है। इस व्यावहारिक सचाई को भी स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा—'अनुशासन व समर्पण का दूसरा नाम है—तेरापंथ धर्मसंघ। इसके अंतरंग सदस्यों से यदि पूछा जाए कि सबसे अच्छा मौसम कौनसा होता है? तो एक ही उत्तर होगा—मर्यादा महोत्सव का। इस अवसर पर पूरे धर्मसंघ का मिलना होता है।' मुंबई मर्यादा महोत्सव पर क्षेत्रीय सुविधा हेतु लगभग पांच सौ साधु-साध्वियां प्रवासी ही रहे, प्रत्यक्ष सन्निधि में नहीं पहुंच पाए। आत्मीयता के झंकृत तारों से उन सबको याद करते हुए आचार्यवर ने फरमाया—'इस अवसर पर सभी साधु-साध्वियां सामीप्य चाहते हैं। उन सबको भी बुलाना था, उनका मानस यहां प्रवासी बना हुआ है। हम भावना से उन्हें बुला रहे हैं—ऐसा वे स्वीकार करें। वे हमारी ओर देख रहे हैं और हम उनकी ओर देख रहे हैं।' किसी भी कार्य की सिद्धि में काल, स्वभाव आदि के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा—'भावना सबकी रहती है, पर योग-संयोग भी कार्य करते हैं। मर्यादा महोत्सव पर क्षेत्रीय दूरी कम हो रही है—इसका उल्लास है। यहां रहें या बाहर, सभी तन्मयता व समर्पण के साथ संघ की सेवा कर रहे हैं।'

अनुशासन और एक नेतृत्व विकास का प्राण है। विकास में सबका योगदान है। सापेक्षता की इस सचाई को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं—'लोग कहते हैं तेरापंथ के आचार्य बड़ा काम कर रहे हैं। पर, ये बड़ा काम किसके आधार पर हो रहा है, युवाचार्यश्री महाश्रमण, साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा, साधु-साध्वियों, समण-समणियों, श्रावक-श्राविकाओं का कितना बड़ा योग इस कार्य के पीछे है! कोई भी कार्य सापेक्षता के आधार पर होता है।' सामुदायिक-चेतना के विकास की प्रेरणा देते हुए आचार्यवर ने फरमाया—'हम अपेक्षाओं के जगत में जीते हैं, दूसरों से बहुत काम लेते हैं। संघ से अनायास बहुत-कुछ हमें मिल जाता है। समाज से श्रद्धा, प्रतिष्ठा व आवश्यक वस्तुएं भी हम ले रहे हैं। श्रद्धा जहर है। जैसे जहर पचाना मुश्किल है वैसे ही श्रद्धा लेना सरल है, पर पचाना कठिन है। समाज की जिस गहरी श्रद्धा को हम ले रहे हैं, उसका कितना भार हमारे ऊपर है। श्रद्धा ली और वापस कुछ न दिया तो हमारे पर कितना भार हो गया! जिससे जो मिल रहा है, उस भार से मुक्त कैसे बनूं? यह सोचना कर्तव्य बन जाता है। प्रतिदान की भावना के साथ ही श्रद्धा को पचाया जा सकता है। आचार्य तुलसी की

इसी प्रतिदान भावना से अणुव्रत की आचार-संहिता अस्तित्व में आई।'

स्वार्थ चेतना को संकुचित बनाता है। परार्थ चेतना में अहं का संचार करता है। इनसे भिन्न एक भूमिका है—परस्परार्थ की, जो सापेक्षता को सही पहचान देती है। यह सापेक्षता ही स्वस्थ समाज को निर्मित करती है। व्यक्ति और संघ परस्पर जुड़े हुए हैं। व्यक्ति संघ से प्रभावित होता है और संघ व्यक्ति से प्रभावित होता है। व्यक्ति और संघ का तादात्म्य ही समस्त के साथ सम्मिलन है। वहां कोई दूर नहीं होता, कोई पराया नहीं होता। अपनेपन का विस्तृत दायरा सबको अपने में समा लेता है। इसी अपनत्व से उद्भूत होती है यह वाणी, कि संघ की विशाल काया एक है। इस एकत्व का अवबोध मुखर होता है इन शब्दों में— 'साधु-साध्वियां आते हैं तो उन्हें ही प्रसन्नता नहीं होती, भीतर से हमें भी बहुत प्रफुल्लता होती है, हमारे अवयव मिलते हैं।' कार्यक्षेत्रों की मांग, मर्यादा महोत्सव के बाद साधु-साध्वियों को विहार के लिए भी तैयार कर देती है। प्रस्थान का वह समय कमोबेश सभी की मानसिकता को प्रभावित करता है। छोटे-छोटे साधु-साध्वियों के लिए यह समय कई बार विशेष भारी हो जाता है। इस भारीपन का स्पर्श आचार्यवर को भी होता है और तभी वे कहते हैं— 'नवदीक्षित को तत्काल अलग में भेजना नहीं चाहते। सामूहिक संस्कार की दृष्टि से कम-से-कम एक वर्ष यहां रखना भी जरूरी है। पर, व्यवस्था की दृष्टि से भेजना पड़ता है।' एक बार ऐसे ही अवसर पर छोटे साधु-साध्वियों ने आचार्यवर से पूछ लिया—'भंते! दुधमुंहे बच्चे के समान हम छोटे-छोटे साधु-साध्वियों को बहिर्विहार में आप भेज रहे हैं। गुरुदेव! यह आपको कैसा लग रहा है?' भारी मन व मासूमियत के साथ किए गए इस प्रश्न के समाधान में विकास की प्रेरणा का संचार करते हुए आचार्यवर ने फरमाया—'जब तुम लोग उपशम की साधना करके आओगे, तब लगेगा—अनुत्तर विमान के देव ही आ गए हैं।' भारी मन एकाएक प्रफुल्लता से खिल-सा गया। पूरी यात्रा के लिए प्राण-ऊर्जा, शिक्षा-संजीवनी का संचार-सा हो गया। कहा जाता है—गायक की आत्मा उसके कंठों में निवास करती है, दार्शनिक की आत्मा उसके मस्तिष्क में निवास करती है, पर यह यथार्थ है कि तेरापंथ के आचार्य की आत्मा उसके हर सदस्य में निवास करती है। आत्मीयता की यह सशक्त डोर ही सबको निश्चिंतता के साथ आध्यात्मिक उन्नयन की राह प्रदान करती है। स्वयं आचार्यवर के शब्दों में—'दूसरों को सम्मान देना, व्यवस्था, अनुशासन, विधि-निषेध, सेवा और परस्पर सहयोग से गण के शरीर की रचना हुई है। सधा हुआ आत्मानुशासन, विनम्रता, सौहार्द, वात्सल्य और परस्पर विचारों में सम्मति, सहमति अथवा ऐकमत्य—ये विशेषताएं गण की प्राण हैं। आचार्य गण की आत्मा है। उसके लिए—समीचीन आस्था, समीचीन दृष्टिकोण और समीचीन धारणा—यह त्रिपदी सम्मान्य है।' सौभाग्यशाली है तेरापंथ धर्मसंघ में जीने वाला हर सदस्य कि इन विशेषताओं का साक्षात् उदाहरण उसे देखने और जीने को मिला। ❖

आचार मीमांसा : एक विमर्श पृष्ठ 24 का शेष

17. Encyclopedia of Religion and Ethics, P. 405
18. सांख्यकारिका, श्लोक 21, पङ्ग्वन्धवदुभयोऽपि....।
19. दसवेआलियं, 4/10
20. सूयगडो, 1/1/1, बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा।
21. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 87
22. आयारो, 1/1
23. वही, 1/3, सेज्जं पुण जाणेज्जा-सहसम्मुइयाए, परवागरणेणं, अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा...।
24. श्रमण प्रतिक्रमण (संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ, लाडनूं, 1993), पृ. 2
25. आयारो, 1/174
26. वही, 4/46, जस्स नत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कओ सिया?
27. वही, 1/5, सें आयावई, लोगावई, कम्मावाई, किरियावाई।
28. महाप्रज्ञ, आचार्य, मनन और मूल्यांकन (चूरू, 1983), पृ. 5
29. तत्त्वार्थाधिगम, सूत्र 1/1, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।
30. (अमृतकलश-I) आराधना (ले. जयाचार्य, चूरू, 1998),8/4,
जे समकित बिण म्हैं, चारित्र नीं किरिया रे।
बार अनन्त करी, पिण काज न सरिया रे।।
31. उत्तरज्झयणाणि, 28/30,
नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।।
32. वही, 28/2,
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं।। ❖

स्वाध्याय तभी फलदाई बनता है, जब वह तन्मयता से किया जाए। बिना भावक्रिया के केवल वाचिक उच्चारणपूर्वक जल्दी-जल्दी किए जाने वाले स्वाध्याय से न नए तथ्यों की अवगति हो सकती है और न ही एकाग्रता सधती है। पूज्य गुरुदेव की हर क्रिया तन्मयता के साथ जुड़ी हुई थी। बिना तन्मयता के की गई किसी भी क्रिया को वे मूर्च्छा का प्रतीक मानते थे। जब वे मंदगति से लयबद्ध स्वाध्याय करते तो आस-पास का वातावरण झंकृत हो उठता। प्रमादी व्यक्ति को भी जागृति एवं रूपांतरण की नई स्फुरणा मिल जाती।

सज्झायम्मि रओ सया

समणी कुसुमप्रज्ञा

सबल एवं सक्षम मन के लिए स्वाध्याय एक पुष्ट आलंबन है। मन की चेतना पर आए आवरण को दूर करने एवं आत्मविद्या की उपलब्धि में स्वाध्याय एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम है। महात्मा गांधी के शब्दों में स्वाध्याय एक महकता गुलशन है, जिससे चित्त सदा प्रसन्न रहता है।

गुरुदेवश्री तुलसी ने स्वाध्याय को साधना का अभिन्न अंग माना है। उनकी दृष्टि में स्वाध्याय और साधना के बीच गहरा संबंध है। एकांगी स्वाध्याय बौद्धिक विकास तक सीमित रह जाता है और एकांगी साधना भी साधक को रूढ़ बना देती है। स्वाध्याय को साधना का अंग बना लिया जाए तो नवोन्मेष की संभावना बन जाती है। ध्यान की साधना हर-एक न भी कर सके, पर स्वाध्याय तो चंचल चित्त वालों के लिए भी सहज है।

प्राचीन आचार्यों का मंतव्य रहा कि स्वाध्याय की लीनता ही धीरे-धीरे ध्यान में परिणत होती है और उससे भीतर का परमात्म प्रकट हो जाता है—

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्यायध्यानसम्पत्त्या, परमात्मा प्रकाशते।।

स्वाध्याय को परिभाषित करते हुए गुरुदेवश्री तुलसी ने कहा—'अपने-आप को केंद्र में रखकर अपने बारे में जानकारी पाने के लिए अपने द्वारा जो अध्ययन किया जाता है, वह स्वाध्याय है।' इस परिभाषा से स्वाध्याय के दो अर्थ फलित होते हैं— 1. अपना अध्ययन, आत्मनिरीक्षण, अपनी पहचान एवं आत्मविश्लेषण। 2. सत्साहित्य का वाचन और उसका मनन।

आचार्यश्री तुलसी का दसवां महाप्रयाण
(आषाढ़ कृष्णा तीज : 14 जून)
विनम्र श्रद्धाभिव्यक्ति

आचार्यश्री तुलसी दोनों ही प्रकार के स्वाध्याय से स्वयं को भावित करते रहे। वे अपने मन को स्वाध्याय की शलाका से बांधे रहते थे। अपने मुनि-जीवन में रात के प्रथम प्रहर में तीन-तीन हजार श्लोकों का पुनरावर्तन कर लेते थे। मार्ग में चलते कभी दो मिनट का भी विश्राम होता तो वहीं स्वाध्याय या नयी गाथा सीखना प्रारंभ कर देते थे। आचार्य पद ग्रहण करने के बाद भी उनका स्वाध्याय का क्रम अविच्छिन्न चलता रहा। पूर्व-रात्रि में जनसंपर्क या प्रवचन आदि के कारण स्वाध्याय का समय नहीं मिलता, पर पश्चिम-रात्रि में स्वाध्याय का क्रम अनिवार्यतः चलता। कभी वे अकेले स्वाध्याय करते, कभी बाल-संतों के साथ, तो कभी सामूहिक स्वाध्याय भी करते।

एक प्रसिद्ध उक्ति है—'ज्ञान कंठा और दाम अंटा'। बहुश्रुतता के लिए आवश्यक है कि गंभीर ग्रंथों को कंठस्थ किया जाए। पूज्य गुरुदेव ने इस दृष्टि से एक कीर्तिमान स्थापित किया। मुनि-जीवन के 11 वर्षों में उन्होंने 20 हजार गाथाओं को कंठस्थ किया। जीवन के सांध्यकाल में भी उन्हें संस्कृत, प्राकृत या हिंदी का कोई नया श्लोक पढ़ने या सुनने को मिलता तो वे तत्काल उसे अपनी डायरी में नोट करके कंठस्थ कर लेते। आचार्य पद का गुरुतर दायित्व निभाते हुए भी उन्होंने सैकड़ों गाथाएं कंठस्थ कीं। **शांतसुधारस** जैसा

ग्रंथरत्न उन्होंने वि.सं. 2000 में सीखा। एक दिन संतों ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—'आचार्य बनने के बाद आपने यह ग्रंथ कैसे कंठस्थ किया?' गुरुदेव ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—'कंठस्थ करने से अवस्था और दायित्व का क्या संबंध? लगन और उत्साह होना चाहिए। लगन हो तो कभी और किसी भी अवस्था में सीखा जा सकता है।' प्रेरणा देने के लिए वे साध्वी सूरजकुमारीजी (छोटी खाटू) का उदाहरण देते हुए कहते—'साध्वी सूरजकुमारी को आंखों से दीखता नहीं, पूरा शरीर गठियावात से पीड़ित, फिर भी एक-एक पद सुनकर 'व्यवहार बोध' और 'अर्हत्वाणी' सीख ली है।' वे कहते—'कंठस्थ करने में सबको उत्साह रखना चाहिए। इससे बुद्धि पैनी बनी रहेगी, अन्यथा बुद्धि को भी जंग लग जाता है।'

स्वाध्याय का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है—शुद्ध उच्चारण। जिसे प्राचीनकाल में संहिता कहा जाता था। गुरुदेवश्री तुलसी उच्चारणशुद्धि पर बहुत ध्यान देते थे। वे अनेक बार कहते थे कि यदि कोई मेरे सामने अशुद्ध उच्चारण करता है तो मेरे कानों में वह शब्द शूल की भांति खटकता है। बाल मुनियों, मुमुक्षु बहिनों एवं समणीगणों को वे प्रतिदिन उच्चारणशुद्धि का अभ्यास करवाते। कभी-कभी तो वे एक ही शब्द का तब तक उच्चारण करवाते रहते, जब तक उच्चारण पूर्ण शुद्ध न हो जाए। इस क्रम में कभी-कभी एक ही शब्द की दस-बीस बार पुनरावृत्ति हो जाती। अनेक बार उनको निवेदन किया जाता कि आपका बहुमूल्य समय महत्त्वपूर्ण कार्यों में लगना चाहिए। यह कार्य तो कोई भी कर सकता है। इसका प्रत्युत्तर देते हुए वे कहते—'यह मेरे भी स्वाध्याय का ही एक क्रम है।' यह इतिहास का विरल उदाहरण है कि किसी आचार्य/अनुशास्ता ने अपने शिष्यों की उच्चारण-शुद्धि पर इतनी शक्ति और समय का नियोजन किया हो।

ज्ञान के स्थिरीकरण का एक महत्त्वपूर्ण अंग है—परावर्तन। कंठस्थ ज्ञान का यदि बार-बार परावर्तन नहीं होता है तो उसके विस्मृत होने की संभावना बनी रहती है। सामान्यतः कंठस्थ करने में उत्साह रहता है, किंतु पुनरावर्तन के अभाव में उसमें स्थाइत्व नहीं रह पाता। पूज्य गुरुदेव ने अनेक बार प्रेरणा देते हुए कहा—'कंठस्थ ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए पुनरावर्तन आवश्यक है। पुनरावर्तन के अभाव में कंठस्थ ज्ञान को भूलना कठोर श्रम से कमाई हुई पूंजी को अपने प्रमाद से खोने के बराबर है। ज्ञान के पुनरावर्तन से मन की स्थिरता बढ़ती है, आत्मलीनता की स्थिति बनती है। कम पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी यदि बार-बार पुनरावर्तन करे तो विद्वान बन सकता है।'

83 वर्ष की उम्र में भी पूज्य गुरुदेव प्रतिदिन 1000 गाथाओं का पुनरावर्तन कर लेते थे। व्यस्त जीवन में भी वे भक्तामर, कल्याणमंदिर, अन्ययोगव्यवच्छेदिका, अयोगव्यवच्छेदिका, चतुर्विंशतिगुणगेयगीतिः, रत्नाकरपंचविंशिका, उत्तराध्ययन के कुछ अध्ययन तथा शांतसुधारस आदि ग्रंथों का स्वाध्याय नियमित रूप से करते थे। बचपन में कंठाग्र किए हुए ग्रंथ जीवन के अंत समय तक भी उनको अपने नाम की भांति याद थे। इसका कारण उनके बाल्यकालीन अनुभवों में देखा जा सकता है—'मैं दिन में जितने पद्य या सूत्र कंठस्थ करता, रात्रि में उनका पारायण अवश्य करता। जब तक वे अच्छी तरह आत्मसात् नहीं हो जाते, उनको प्रतिदिन दोहराता। अनेक बार रात्रि में संपूर्ण चंद्रिका का स्वाध्याय हो जाता, जिस दिन किसी कारण से स्वाध्याय नहीं हो पाता, मुझे लगता कि कोई करणीय कार्य छूट गया है।' (मेरा जीवन : मेरा दर्शन, पृ. 107)

संस्कृत एवं हिंदी के सैकड़ों-हजारों सुभाषित श्लोक एवं दोहे उनको ऐसे याद थे कि जैसे किसी कैसेट में 'रिकार्ड' किए हुए हों। अध्यापन के दौरान एक कालांश में ही प्रासंगिक रूप संस्कृत के पद्यों का उल्लेख करना उनके लिए सहज था। स्वाध्याय की ऐसी जीती-जागती मिसाल मिलना दुर्लभ है। अस्वास्थ्य की स्थिति में वे अपना अधिकांश समय पुनरावर्तन एवं अनुप्रेक्षा में ही बिताते। वि.सं. 2050, राजलदेसर चातुर्मास में उनके पैर में साइटिका का भयंकर दर्द उठा। डाक्टरों ने पूर्ण विश्राम की सलाह दी, गुरुदेव ने उसे कायोत्सर्ग में परिणत कर दिया। उस समय भक्तामर, कल्याणमंदिर, चतुर्विंशतिगुणगेयगीतिः एवं रत्नाकर पच्चीसी आदि को दिन में कई बार अनुप्रेक्षा के रूप में दोहरा लेते। उनका अनुभव था कि वेदना के क्षणों में स्वाध्याय करने से उसकी अनुभूति को कम किया जा सकता है।

स्वाध्याय तभी फलदाई बनता है, जब वह तन्मयता से किया जाए। बिना भावक्रिया के केवल वाचिक उच्चारणपूर्वक जल्दी-जल्दी किए जाने वाले स्वाध्याय से न नए तथ्यों की अवगति हो सकती है और न ही एकाग्रता सधती है। पूज्य गुरुदेव की हर क्रिया तन्मयता के साथ जुड़ी

हुई थी। बिना तन्मयता के की गई किसी भी क्रिया को वे मूर्च्छा का प्रतीक मानते थे। जब वे मंदगति से लयबद्ध स्वाध्याय करते तो आस-पास का वातावरण झंकृत हो उठता। प्रमादी व्यक्ति को भी जागृति एवं रूपांतरण की नई स्फुरणा मिल जाती।

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जयाचार्य स्वाध्यायप्रिय आचार्य थे। वे खड़े-खड़े पूरे उत्तराध्ययन का तल्लीनता से स्वाध्याय करते और अनेक बार अपने आनंद को अभिव्यक्ति देते हुए युवाचार्य मघराजजी से कहते—'मघजी! आज एक रत्न हाथ लगा है।' तन्मयता से स्वाध्याय करने वाला व्यक्ति प्रतिपल नए-नए तत्त्वों को हस्तगत करता रहता है।

अर्थ की अनुप्रेक्षा सहित तल्लीनता के साथ किया जाने वाला स्वाध्याय ही अधिक लाभप्रद होता है। गुरुदेवश्री तुलसी का मानना था कि बिना अर्थ की अनुप्रेक्षा के कंठस्थ ज्ञान भार बन जाता है। लाडनूं प्रवास में पश्चिम-रात्रि में संतों को अनुग्रहभरे शब्दों में उन्होंने कहा—'तुम लोगों को जो चीजें कंठस्थ हैं, उनका अर्थ मुझसे कर लिया करो।' संतों ने सकुचाते हुए निवेदन किया—'इससे आपके स्वाध्याय में विघ्न पड़ेगा।' गुरुदेव ने फरमाया—'विघ्न किस बात का? दूसरों को अर्थ का ज्ञान कराना भी तो स्वाध्याय ही है। अध्यापन में मुझे जितना आनंद मिलता है, उतना किसी दूसरे कार्य में नहीं मिलता।' गुरुदेव की इस अमृतमयी वाणी को सुनकर संत कृतार्थता का अनुभव करने लगे।

प्राकृत या संस्कृत के श्लोक का प्रतिदिन अर्थ पूछना और फिर विधिवत् प्रशिक्षण देना उनके नित-रोज का क्रम था। लाडनूं प्रवास में गुरुदेव ने संतों से अन्ययोगव्यवच्छेदिका का **सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्ता** का अर्थ पूछा। बालमुनि उसका अर्थ नहीं कर पाए। पूज्य गुरुदेव ने प्रेरणा देते हुए कहा—'कंठस्थ ग्रंथ तो ऐसे हृदयंगम होने चाहिए कि बोलते ही उनका अर्थज्ञान हो जाए।' प्रेरणा के रूप में महाश्रमणजी (अब युवाचार्य महाश्रमण) का उदाहरण देते हुए गुरुदेव ने फरमाया—'महाश्रमण अर्थ जल्दी पकड़ता है।' एक मुनि ने अपना बचाव करते हुए कहा—'महाश्रमणजी का ज्ञान तो विशाल है।' संतों की आत्मशक्ति को जगाने के इरादे से गुरुदेव ने प्रतिबोध दिया—'तुम लोग कम हो क्या? पुरुषार्थ और लगन हो तो कुछ भी हो सकता है। ज्ञान बाहर से थोड़े ही आता है। व्यक्ति जितना पुरुषार्थ करता है, उतना ही 'अंतर का आवरण' हटता जाता है। जिस प्रकार सिर, मुंह आदि के केश बाहर से नहीं आते, वैसे ही जितना पुरुषार्थ होता है, उतना ही ज्ञान का क्षयोपशम होता है। अतः अवधानपूर्वक पुरुषार्थ करते रहो, अर्थ की अनुप्रेक्षा करते रहो, जीवन में ज्ञान के नए-नए स्रोत स्वतः खुलते जाएंगे।'

अध्यात्म के शिरोमणि ग्रंथ हैं—आगम। आगम का पारायण एक व्यक्ति को अध्यात्म से सराबोर कर सकता है। गुरुदेव के रोम-रोम में आगमों के प्रति अटूट आस्था रमी हुई थी। वे मानते थे कि यदि हम 'आगम-कार्य' को हाथ में नहीं लेते तो अध्यात्म एवं साधना की दृष्टि से रिक्त रह जाते। साधना की विविध दृष्टियों का जागरण आगमों के आलोक में ही संभव हो सका है। आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक आदि आगम-ग्रंथों के पद्यों का जब वे स्वाध्याय करते तब उनका आनंद और तल्लीनता देखते ही बनती थी। अनेक बार वे आगम-सूक्तों के माध्यम से ही साधु-साध्वियों को विशेष दिशादर्शन देते—**'बितिया मंदस्स बालया', 'इयाणिं नो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं', 'जाए सद्धाए णिक्खंतो, तमेव अणुपालिया', 'खणं जाणाहि पंडिए', 'किमेगरायं करिस्सइ'** आदि आगम-सूक्त समय-समय पर अनेक बार उनके मुखारविंद से सुने जाते थे।

वेदना के क्षणों में पूज्य गुरुदेव आगम गाथाओं के स्वाध्याय को ही अपना आलंबन बनाते। लाडनूं प्रवास में अचानक गुरुदेव के श्वास का वेग बढ़ गया। श्वास लेने में कठिनाई होने लगी। सभी चिंतित हो गए। उस समय की मनःस्थिति का चित्रण करते हुए पूज्य गुरुदेव ने दूसरे दिन कहा—'कल जब श्वास का वेग अचानक बढ़ गया तो उत्तराध्ययन के दसवें अध्ययन 'दुमपत्तए' की अनेक गाथाएं स्मृति में उभर आईं। मैं बार-बार दुमपत्तए अध्ययन की निम्न गाथा का अनुचिंतन करने लगा—

अरई गंडं विसूइया, आयंका विविहा फुसंति ते।
विवडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम! मा पमायए।।'

इसी के साथ गुरुदेव ने सभी साधु-साध्वियों एवं समणियों को बुलाकर उत्तराध्ययन का दसवां अध्ययन कंठस्थ करने और उसका प्रतिदिन स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी। अनेक बार सामूहिक रूप से लयबद्ध, विराम सहित इस अध्ययन का सहगान करना सिखाया। आगम गाथा के उच्चारण का प्रशिक्षण देते हुए उन्होंने कहा—'मैं चाहता हूं

शेष पृष्ठ 55 पर

मैं जितनी देर उसकी मां से बातें करता रहा, मेरे हृदय में रह-रहकर वह बात खटकती रही—अब नीलिमा अनपढ़ ही रहेगी। वह, जो एक बहुत बड़ी विदुषी हो सकती थी, शायद अब कुछ भी नहीं होगी। बात उतनी महत्त्वपूर्ण न होती, यदि वह स्वयं उसे न जानती। ट्रैजेडी यही थी कि वह जानती थी। वह बहुत छोटी आयु में ही अपने को पहचानना सीख गई थी और आज वह पहचान ही उसके जीवन की कसम बन रही थी।

कहानी

एक घटना

मोहन राकेश

लुधियाने के पास वह छोटी-सी बस्ती है। रिटायर होने के बाद डाक्टर हरिवंश वहीं बस्ती में ही जा बसे थे, क्योंकि उनका जन्मस्थान वही था, और पुरातत्त्व के विद्वान होते हुए भी उनके हृदय में इतनी भावुकता थी कि जीवन के अंतिम दिन उसी वातावरण में रहकर बिताएं, जिस वातावरण के साथ उनके जीवन की पहली स्मृतियां संबद्ध थीं। वहां जाने के चौथे वर्ष ही उनका देहांत हो गया, हृदय की गति रुक जाने से, और उनके हितचिंतकों तक यह समाचार, एक-एक करके, दिनों-महीनों में ही पहुंच पाया। जब वह समाचार मुझे मिला, उन्हें गुजरे चार महीने हो चुके थे। मुझे सहसा झटका लगा। केवल इसलिए ही नहीं कि डाक्टर हरिवंश मेरे अच्छे मित्र थे, बल्कि इसलिए भी कि एक इतना बड़ा विद्वान उठ गया और कहीं कोई चर्चा नहीं हुई; यहां तक कि उनके निकट परिचय के व्यक्तियों ने भी जाना नहीं। वे नगर में रहते तो शोकसभाएं होतीं, सहानुभूति के संदेश भेजे जाते, परंतु...

मैंने एक बार उनके परिवार से मिल आने का निश्चय किया। उनका परिवार केवल दो प्राणियों का था। एक उनकी स्त्री, और दूसरी उनकी कन्या, जो उनके नगर छोड़कर बस्ती में जाने के समय लगभग बारह वर्ष की थी। उस आयु में भी वह बालिका चतुराई के साथ तर्क करना सीख गई थी और जब-तब गंभीर विषयों में अपनी सम्मति दिए बिना नहीं मानती थी—नीलिमा आगे चलकर एक बहुत बड़ी विदुषी होगी—यह एक बार मैंने ही कहा था। फिर तो वह कभी भी अपनी बात को पुष्ट करने के लिए कह दिया करती—जानते नहीं, नीलिमा आगे चलकर एक बहुत बड़ी विदुषी होगी।

जिस दिन मैं सहसा बिना सूचना दिए बस्ती में उनके जर्जर घर के द्वार पर जा खड़ा हुआ, मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उस धृष्ट बालिका के स्थान पर एक शालीन नवयुवती ने विस्मय-भरी आंखें उठाकर मुझे देखा और अत्यंत संयत स्वर में कहा—आ जाइए, चाचाजी। मां अंदर रसोईघर में हैं। अभी बुलाती हूं।—वह नीलिमा थी, नाम और देह से; स्वभाव में वह कोई और ही लगी; बिलकुल अपरिचित।

उसकी मां अंदर से आ गईं। उनकी वेश-भूषा सदैव साधारण ही रही थी, पर इस समय की वेश-भूषा पर दैन्य और मलिनता की स्पष्ट छाप थी। उन्होंने ऐसे आग्रह से, जिसमें आत्मीयता का शायद विश्वास नहीं था, मुझे बैठने को कहा और मेरे बैठ जाने पर भी स्वयं अनिश्चित भाव से खड़ी रहीं। मुझे क्षण-भर के लिए तो लगा कि मैं सचमुच उनके लिए अपरिचित हो गया हूं, परंतु उस अनुभूति को वश में करके मैंने पुराने ही सौहार्द के साथ उन्हें पास बैठाया और स्नेह के साथ नीलिमा के सिर पर हाथ फेरा। इससे पहले कि मैं कुछ कहता, नीलिमा की आंखें अश्रुपूर्ण हो आईं और उसकी मां ने रुलाई रोकने के लिए आंखें दूसरी ओर फेर लीं। उनकी करुणा इतनी पास से देखकर मेरा भी हृदय अस्थिर हो उठा। मेरी आंखों में जो आंसू आए, उनसे पुरानी आत्मीयता समय का व्यवधान तोड़कर जाग्रत हो उठी और नीलिमा मेरे घुटनों पर सिर रखकर बुरी तरह रो उठी।

—चाचाजी!—उसके रोते हुए कंठ से निकले ये शब्द मेरे लहू की बूंद-बूंद में अपनी प्रतिध्वनि भर गए।

वह देर तक इसी तरह रोती रही और मैं उसके सिर पर हाथ फेरता रहा। उसकी मां ने सजल नेत्रों से मेरी ओर देखकर कहा—उनके बाद यह आज इस तरह रोई है।

मैं कल्पना कर पाया कि उसका जीवन कितना संवेदनाहीन रहा होगा।

जब नीलिमा रो-रोकर शांत हो गई तो उसने शीघ्रता से अपनी आंखें पोंछ लीं, स्वाभाविक रूप में आने की उसने अस्वाभाविक चेष्टा की और थोड़ी देर चुप रहकर बोली—चाचाजी, आप समझ रहे होंगे कि आपकी बिटिया पागल हो गई है।

—पागल हो नहीं गई, पागल करने जा रही है—मैंने वात्सल्य के आक्षेप के साथ कहा।

वह चुप रही।

—बोल विदुषी, चुप क्यों हो गई?—मैंने फिर दुलारा।

वह फिर चुप रही।

—नीलिमा आगे चलकर एक बहुत बड़ी विदुषी होगी, है न?

—अब नीलिमा अनपढ़ ही रहेगी, चाचाजी?—यह बात जैसे असावधानी से उसके मुंह से निकल गई। विषयांतर में अपने को डालने के लिए झटपट कहा—मां, मैं चाचाजी के लिए चाय तो बना दूं—और चली गई।

मैं जितनी देर उसकी मां से बातें करता रहा, मेरे हृदय में रह-रहकर वह बात खटकती रही—अब नीलिमा अनपढ़ ही रहेगी। वह, जो एक बहुत बड़ी विदुषी हो सकती थी, शायद अब कुछ भी नहीं होगी। बात उतनी महत्त्वपूर्ण न होती, यदि वह स्वयं उसे न जानती। ट्रैजेडी यही थी कि वह जानती थी। वह बहुत छोटी आयु में ही अपने को पहचानना सीख गई थी और आज वह पहचान ही उसके जीवन की कसम बन रही थी।

वह चाय ले आई।

मैंने चाय की प्याली को गौर से देखा। फिर नीलिमा के चेहरे को देखा। उन दोनों में एक साम्य था। दोनों की उज्ज्वलता धुंधली हो रही थी, असमय ही। चाय की प्याली शायद दिनों के बाद उपयोग में लाई जा रही थी।

—तू भी तो मेरे साथ पीएगी, बिटिया—मैंने प्याला उसके हाथ से लेते हुए कहा।

वह क्षण-भर मौन रही। फिर बोली—आप पी लीजिए, मैं बाद में पीऊंगी।

—साथ ही क्यों नहीं?

वह फिर क्षण-भर मौन रही। फिर बोली—इसी प्याली को धोकर इसमें लूंगी।

मेरा हाथ थोड़ा-सा कांप गया। उसके घर में दूसरी प्याली नहीं थी।

—हम साथ ही साथ पीएंगे—मैंने कहा, और आधी चाय सॉसर में डालकर अपने लिए रख ली और प्याली उसकी ओर बढ़ा दी।

—नहीं, आप यह लीजिए,—कहकर नीलिमा ने सॉसर मेरे हाथ से ले ली और एक घूंट पी भी लिया।

घर की दशा शोचनीय हो रही थी। एक दीवार में दरार पड़ गई थी और उस ओर से घन की कड़ियां यूं ही हलका-हलका चिरमिराती रहती थीं। बाहर का आंगन ही घर में रहने का एकमात्र सुरक्षित स्थान दिखाई देता था। वहां भी चिड़ियों और कबूतरों ने अपने रैन-बसेरे की डौल कर रखी थी। नीलिमा की मां, प्राणी-दया के वशीभूत, उन्हें वहां से हटा देने के पक्ष में न थीं। वैसे शायद अपने जीवन के एकांत में, उन्हें उन पक्षियों में ही निजत्व का परितोष मिल जाता था।

धीरे-धीरे उनकी अवस्था खुलकर मेरे सामने आ गई। डाक्टर हरिवंश ने अपने जीवन-काल में कुछ भी धन संचित नहीं किया था। उनका विचार था कि वे अपनी बेटी को इतना योग्य बना जाएंगे कि वह हर तरह से स्वावलंबिनी बन सके। उन्होंने यह नहीं सोचा कि पैंतीस वर्ष की आयु में विवाह करने वाले व्यक्ति की संतान इस देश में पिता की छत्रछाया में थोड़ा ही जीवन-काल बिता पाती है।

—चाचाजी, पुराने हस्तलिखित ग्रंथ कहीं बिक सकते हैं? —सहसा नीलिमा ने कहा।

मुझे याद आया कि डाक्टर हरिवंश ने अपने जीवन-काल में देश के विभिन्न भागों से बहुत-से हस्तलिखित ग्रंथ एकत्रित किए थे और उन्हें वे अपनी एक अमूल्य संपत्ति समझा करते थे। यदि उनकी मृत्यु आकस्मिक न हुई होती तो निःसंदेह वे ये ग्रंथ किसी पुस्तकालय को भेंट कर जाते। पर अब परिस्थिति भिन्न थी और उस परिवार को रूखे गौरव की अपेक्षा धन की अधिक आवश्यकता थी।

—चेष्टा की जा सकती है, मैं पुस्तकालयों में पता करूंगा—मैंने कहा।

—मां उन्हें रद्दी में बेचने जा रही थीं, पर मैंने बेचने नहीं दिया।

—रद्दी में?—मेरे हृदय पर सहसा एक और आघात लगा। उनकी अवस्था की वास्तविकता और भी उघड़कर सामने खड़ी हो गई।

—रद्दी में इनका क्या मिल जाता, भला? —मैंने कहा—इन पन्नों में तो पुड़ियां भी नहीं बंध सकतीं।

—रद्दीवाला एक मन के तीन रुपए दे रहा था। कुल मिलाकर सवा मन के लगभग हैं।

इस कल्पना से मेरा अंतर कांप उठा कि शताब्दियों का परिश्रम और शताब्दियों की प्रतिभा, जिसके संचय में भी कई वर्ष लगे, केवल साढ़े तीन रुपए में बेच दिए जाते।

—और किसी से नहीं पूछा?

—मंदिर के पुजारीजी को एक दिन सब ग्रंथ दिखलाए थे। वे श्रीमद्‌भागवत दो रुपए में ले गए। और ग्रंथ, उन्होंने कहा, उनके काम के नहीं। पर, उन्होंने यह भी कहा था कि कोई खरीदने वाला मिल जाए तो पूरी किताबों के पचास-साठ रुपए दे देगा।

—इतने मिल जाएंगे?—नीलिमा की मां ने पूछा। उनकी ध्वनि में निराश उत्सुकता झलक आई।

—इतने ही नहीं, इससे कहीं अधिक मिल जाने चाहिए, यदि ग्रंथ किसी पुस्तकालय ने ले लिए—मैंने कहा। नीलिमा की मां की आंखों में एक हल्की-सी किरण चमककर रह गई।

संध्या हो रही थी और मुझे आखिरी बस से लौटना था। जब मैंने उनसे विदा ली, उन दोनों की आंखें पुनः अश्रुपूर्ण हो आईं। मैंने बार-बार चाहा कि नीलिमा से कहूं कि बेटी चल, मैं तुझे पढ़ाऊंगा, तुझे वैसी ही विदुषी बनाऊंगा, जैसी तेरे पिता की कामना थी, पर तुरंत अंकुश के रूप में भविष्य के चित्र खड़े हो जाते—उसे पढ़ाना ही नहीं, उसके विवाह का भी प्रबंध करना होगा, और अभी मुझ पर अपनी बेटी के विवाह का ऋण बाकी है, जिसे चुकाने में कई वर्ष लगेंगे, और मैं भी बूढ़ा हो रहा हूं और मेरी पत्नी चिड़चिड़े स्वभाव की है तथा मेरी पेंशन कुल साठ रुपए है।

—बेटी, मुझे ग्रंथों की सूची बनाकर भेज देना। मैं पता करके तुम्हें लिखूंगा। मैंने चलते हुए कहा।—मेरी आंखों में जो आंसू आए, उन्हें मैंने ढुलकने दिया।

मैं जालंधर आ गया। लगभग एक सप्ताह बाद नीलिमा का पत्र मिला, जिसके साथ उसने हस्तलिखित ग्रंथों की सूची भी भेजी थी। उस सूची में लगभग दो-सौ ग्रंथ थे। मैंने वह सूची एक संस्कृत के विद्वान को दिखलाई। उन्होंने बतलाया कि उस संग्रह में कई अमूल्य पुस्तकें हैं और आठ-दस तो ऐसी हैं जिनकी कोई एक भी प्रति अन्यत्र प्राप्य नहीं।

मेरा हृदय उल्लसित हो उठा। यदि उस संग्रह के पांच-छः सौ रुपए प्राप्त हो जाएं, तो उस परिवार के लिए यह ठोस आय होगी। मैंने उस संस्कृतज्ञ के आदेश से देश के भिन्न-भिन्न पुस्तकालयों में पत्र लिखे। ग्रंथ-सूची की प्रतिलिपियां भी तैयार करके साथ भेज दीं।

दो-तीन सप्ताह तक कोई उत्तर नहीं आया। मैं निराश होने लगा।

एक दिन एक प्रांतीय पब्लिक लाइब्रेरी से पत्र आ गया। वे पूरे संग्रह को (यदि वह खंडित न हो तो) दो हजार रुपए में खरीदने को तैयार थे।

दो हजार रुपए! नीलिमा की शिक्षा, उसका विदुषी के रूप में चमकना, उसका विवाह, उसका सुखी जीवन...

पहले तो मन में आया कि तुरंत ही स्वीकृति लिख दूं, पर फिर सोचा कि शायद और भी कहीं से उत्तर आ जाए; शायद इससे भी अधिक धन-राशि प्राप्त हो सके।

मैंने बड़े-बड़े पुस्तकालयों को दूसरी बार पत्र लिखे। दो-एक के उत्तर आए कि उन्हें आवश्यकता नहीं। पर मुंबई के एक पुस्तकालय ने चुने हुए सौ ग्रंथों की सूची भेजी और लिखा कि वे केवल उतने ही ग्रंथ लेने के लिए तैयार हैं, और उनके लिए सात-आठ सौ रुपए दे सकते हैं। उसके अनंतर कोई पत्र नहीं आया। मैंने निश्चय किया कि पूरा संग्रह दो हजार रुपए में दे दिया जाए।

जिस दिन मैंने उस पुस्तकालय को पत्र लिखा, उसके दो या तीन रोज बाद मुझे नीलिमा का पत्र मिला। हस्तलिखित ग्रंथ उन्होंने बेच दिए थे... पुजारीजी अपने साथ किसी धार्मिक विद्वान को लेकर आए थे, जिसने पहले तो सौ रुपए देने को कहे, पर धीरे-धीरे दो सौ रुपए तक आ गए। उसने यह भी कहा कि वह उतनी रकम उनके परिवार के प्रति सहानुभूति के कारण ही दिए जा रहा है।

—इससे अधिक तो नहीं मिल सकता था न, चाचाजी? —नीलिमा ने पत्र में लिखा था। मैं देर तक सिर पर हाथ रखकर सोचता रहा कि उसे उत्तर में क्या लिखूं?

दूसरे दिन जो मैंने उसे पत्र लिखा, उसमें संकेत तक नहीं किया कि उन ग्रंथों के लिए उन्हें दो हजार रुपए प्राप्त हो सकते थे। उनकी उस नन्ही-सी खुशी को, जो उनके उदास जीवन में आई थी, यूं मसल देने का साहस नहीं हुआ।

एक बार उबाल उठा कि नीलिमा की क्षतिपूर्ति मुझे करनी चाहिए। मुझे उसको अपने पास ले आना चाहिए, ऋण, बुढ़ापे और अपनी पत्नी के बावजूद...

परंतु वह भी नहीं हो सका। ❖

हे प्रभो! यह तेरापंथ

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

(ISO 9001 : 2000 प्रमाणित संस्था)

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

दूरभाष : 22357956, 22343598, फैक्स : 033-22343666

मेधावी छात्र प्रोत्साहन परियोजना : 'नयी पीढ़ी-नया निर्माण'

आजीविका परामर्श तथा प्रतिभा पहचान/प्रोत्साहन कार्यशाला एवं स्वर्ण पदक/छात्रवृत्ति वितरण समारोह

योग्यता :

तेरापंथ समाज के वे छात्र जिन्होंने कक्षा 10 में 75 प्रतिशत या उससे अधिक तथा कक्षा 12 में 80 प्रतिशत या उससे अधिक अंक प्राप्त किए हों, कार्यशाला में भाग ले सकते हैं।

विशेष आकर्षण :

1. श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का विशेष पाथेय/संबोधन।
2. विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा आजीविका परामर्श (कैरियर गाइडेंस)।
3. कक्षा 10 एवं कक्षा 12 में राष्ट्रीय स्तर पर प्रथम तीन-तीन विद्यार्थियों को आचार्य महाप्रज्ञ स्वर्ण पदक, युवाचार्य स्वर्ण पदक एवं महासभा स्वर्ण पदक तथा बहुपयोगी साहित्य।
4. सभी प्रतिभागियों को कार्यशाला सहभागिता का प्रमाण-पत्र।
5. उच्च शिक्षा के लिए मेधावी-जरूरतमंद विद्यार्थियों का चुनाव तथा आचार्य महाप्रज्ञ मेधा-सह आवश्यकता छात्रवृत्तियां।

नोट :

1. सभी प्रतिभागियों के आवास एवं भोजन की व्यवस्था महासभा द्वारा की जाएगी तथा आने-जाने का द्वितीय श्रेणी रेल अथवा बस किराया भी महासभा द्वारा वहन किया जाएगा।
2. सभी प्रतिभागी अपने क्षेत्र की श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा के माध्यम से आवेदन करेंगे। जहां सभा न हो वहां महिला मंडल/युवक परिषद् के माध्यम से आवेदन करें।
3. आवेदन की अंतिम तिथि 25 जून, 2006 है।
4. जून अंतिम-सप्ताह अथवा जुलाई प्रथम-सप्ताह में कार्यशाला का आयोजन होगा।
5. आवेदक छात्र अंकतालिका की सत्यापित प्रतियां आवेदन के साथ संलग्न करें। आवेदन सादे कागज पर किया जा सकता है, जिसमें नाम, पिता का नाम, पता, टेलीफोन-फैक्स नं. ई-मेल पता, रुचि, भविष्य की शिक्षा योजना, पिता का व्यवसाय, परिवार की वार्षिक आय के संदर्भ में स्पष्ट उल्लेख करें।
6. सभी चयनित छात्रों को कार्यशाला की तिथि, स्थान आदि अलग से सूचित किए जाएंगे।

राजकरन सिरोहिया — अध्यक्ष

बजरंगलाल बोथरा — नियोजक

तरुण सेठिया — महामंत्री

हरीश भादानी की कविताएँ

सविनय पूछूं...

सविनय पूछूं, हूं अज्ञानी!
रचरचते रंगराती धरती
मांड दिया आकाश,
इसके ऊपर
सूरज का संसार रूप कर
तान दिया मह के वितान को,
फिर संरचना जनःलोक की
इसके आगे बुन-बुनदी फिर
तपःजगत की कई करतूतें,
दिखी न कूची, घोल न दीखा,
हाथ न दीखा कौतुकिये का,
एक वही जो सबके पीछे
कोसा उठा, दिखा विज्ञानी!
झीनी-झीनी गुंथी हुई-सी
ये दुनियाएं
हर-हर अणु में करें संसरण,
पर इनका वह स्रष्टा-द्रष्टा
अपना आपा नहीं उघाड़े,
कभी न बोले,
फिर भी सबके
सिरजन और विसरजन तक के
बंद सवालों की सांकल को
बारी-बारी खोले,
मेरे सपने तक में
उसकी छाया भी अनजानी!
मैं केवल इतना ही जानूं
एक साथ इतने लोकों को
घड़ने वाला
है ही बड़ा कुम्हार,
जिज्ञासू हूं
इस कारण ही पूछूं तुझ से
कैसी-कैसी माटी इनकी?
कैसे हैं आकार?
किस आंगन बैठा
सातवां घड़तिया?
कैसे हैं उसके औजार?
पहला है या
वह अन्तिम अक्षर सच
एक बार ही दिखा उसे विज्ञानी!
सविनय पूछूं, हूं अज्ञानी!

वह प्राण!

ऐसा है वह प्राण!
आकाशों की,
पातालों की
एक-एक हलचल होकर भी
अविचल है वह प्राण!
क्षण-निमिषों को हरा दौड़ में
मन जा पहुंचे
तारों की गंगा तट पर,
मगर वहां पर पहले से ही
झीले है वह प्राण!
पांच ज्ञान के,
पांच कर्म के दस-दस हाथ
झटक झुल झूले
रूप न पाए, समझ न पाए,
सारे ही नच-नच कर नाचें
नचवाए वह प्राण!
वह सबको, सब उसको धारे
सब यूं बहे नदी कलकलती
फिर भी लगे
कहीं उसका कोई आधार नहीं है
देही और अदेही दोनों
एक वही है प्राण

❖❖

(ईशावास्योपनिषद् पर आधारित)

शीलन

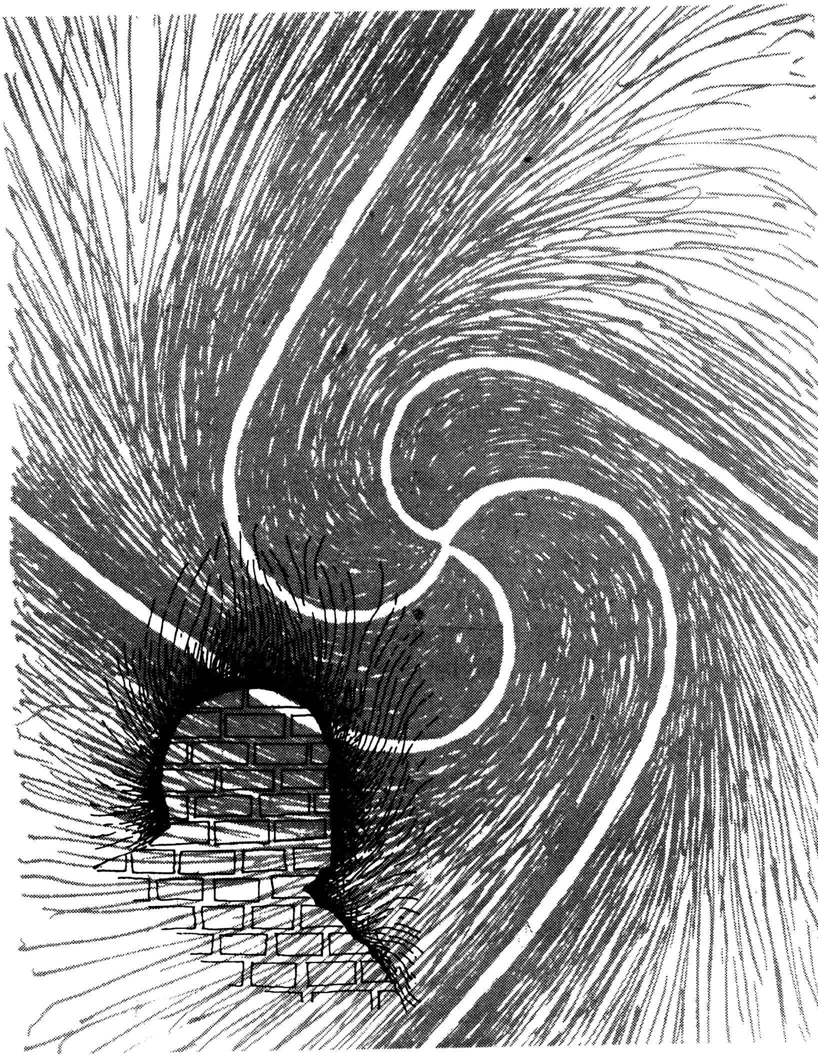

आध्यात्मिक साधना की तटस्थता भावमूलक है। यह समझना गलत है कि आध्यात्मिक जीवन में मानवीय भाव-जगत का निषेध है। कलात्मक अनुभव के समान आध्यात्मिक अनुभव तटस्थता की मांग करता है, क्योंकि सर्जनशीलता के स्तर पर मूल्यों की निर्वैयक्तिक उपलब्धि ही संभव है। कलात्मक सर्जन में अन्य मूल्य स्थितियों का अंतर्भाव रहता है और सर्जनशीलता में इन सबसे तटस्थ या निरपेक्ष रहकर रचनात्मक मूल्योपलब्धि संभव होती है, जबकि आध्यात्मिक जीवन में अन्य मूल्यों का अतिक्रमण परम श्रेयष की ओर उन्मुख सर्जनशील संभावनाओं की उपलब्धि का प्रयत्न होता है। कलात्मक अनुभूति तथा आध्यात्मिक अनुभूति में यह अंतर महत्त्वपूर्ण है।

—प्रो. रघुवंश

कषाय का कोई अंग किसी से कम नहीं। एक ही इतना खतरनाक होता है, तो जब चारों एक साथ मिलकर किसी पर आक्रमण करते हैं, तब तो जो होना होता है वही होकर रहता है। इसलिए कषाय-संतुलन आवश्यक है। यही स्वास्थ्य का आधार बनता है, साथ ही श्रेष्ठ व्यक्तित्व का निर्माण भी करता है।

कषाय-संतुलन का विकास करने के लिए चेतना को जाग्रत करना पड़ता है। ऐसा करने के लिए योग तथा प्रेक्षाध्यान का प्रशिक्षण और प्रयोग करने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर व्यक्ति के मस्तिष्क से कषायों या विकारों का अंत हो सकता है, तभी व्यक्ति की चित्त-शुद्धि का मार्ग प्रशस्त होगा।

कषायमुक्ति : चित्तशुद्धि

मुनि किशनलाल

व्यक्ति के जीवन में कषायों का होना अस्वाभाविक बात नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति इनसे ग्रसित होता है। कषाय व्यक्ति के जीवन में असंतुलन उत्पन्न करते हैं और वह अस्वस्थ भी हो जाता है। अतः व्यक्ति के स्वास्थ्य को बरकरार रखने के लिए कषाय-संतुलन अनिवार्य बन जाता है।

कषाय है क्या?

'कषाय' जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द है। इसका तात्पर्य है—क्रोध, मान, माया और लोभ की एक साथ संयुति। क्रोध, मान, माया और लोभ के प्रभाव से आत्मा कषाय से रंजित हो जाती है। कषाय चेतना को प्रभावित करता है। चेतना के स्पंदन जब कर्मों के क्षय और उपक्षय से स्पंदित होते हैं, तब चेतना निर्मल होती है। चेतना पर कर्म-परमाणुओं के उदय से निकलने वाली कर्म-रश्मियां चेतना को कषायले रंग से रंग देती हैं। कषाय, कर्मों के उदय से स्पंदित होने वाली प्रक्रिया है। उससे चेतना के स्पंदन आवृत्त होते हैं। जब असंतुलित कषाय क्रोध को उत्तेजित करता है, तब व्यक्ति मूढ़ हो जाता है। व्यक्ति को स्वयं पता नहीं रहता कि वह क्या कह रहा है? इसी तरह जब अहंकार होता है, तब व्यक्ति अपने-आप को श्रेष्ठ और दूसरों को हीन समझकर ऐसा व्यवहार करता है जो शिष्ट समाज के लिए वांछनीय नहीं कहा जा सकता। माया को जब इससे उत्तेजना मिलती है, तब व्यक्ति दूसरे को धोखा देता है, छल-प्रपंच कर उन्हें ठगता है।

लोभ सब पापों का मूल है। लोभ के प्रबल उदय से लोभ-संज्ञा जाग्रत होती है। व्यक्ति लालच में आकर अपने ही लोगों का अहित तक कर देता है, या दूसरों से करवा देता है। इससे ही घोटालों की संरचना होती है। जनता के साथ सामूहिक रूप से अकृत्य किया जाता है। यह कार्य किसी से छिपा हुआ नहीं रहता है। तीव्र क्रोध, अहं, माया, लोभ से व्यक्ति दुराचरण करता है। वह स्वयं का अहित तो करता ही है, साथ ही समाज में भी गलत संदेश देता है। इससे परिवार, समाज तथा राष्ट्र प्रदूषित होते हैं।

क्रोध करता है प्रीति का नाश

भगवान महावीर का एक अमर वचन है—

कोहो पींइं पणासेइ, माणो विणय नासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्व विणासणो।।

क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय को नष्ट करता है, माया (कुटिलता) मित्रता (मोहब्बत) को नष्ट करती है। लोभ प्रेम, शिष्टाचार, मित्रता, सभी गुणों को नष्ट करता है।

सैकड़ों वर्षों से जिन परिवारों में परस्पर प्रीति तथा प्रेम रहा, वहीं पर आवेश से निकलने वाले कटु वचनों से उस

स्थिति का नाश हो जाता है। क्रोध विष है। क्रोध के आवेश का पहला नुकसान स्वयं को होता है। उसका रक्तचाप बढ़ने लगता है, श्वास की गति तीव्र हो जाती है, भूख मंद हो जाती है तथा सिरदर्द होने लगता है। यह शारीरिक अस्वस्थता का कारण बनता है। दूसरा नुकसान मन का होता है। मन के तीन कार्य हैं—स्मृति, चिंतन और कल्पना। क्रोधी व्यक्ति के स्मृति-पटल पर क्रोध के आक्रमण से स्मृति का ह्रास, स्वभाव का चिड़चिड़ापन और निर्णय लेने में उतावलापन देखा जा सकता है। यह ऐसी समस्या है जिससे व्यक्ति की जीवनशैली में परिवर्तन हो जाता है। क्रोध का चिंतन पर भी प्रभाव पड़ता है। जो व्यक्ति शांत अथवा तटस्थ रहकर सोचता है, उसमें यथार्थता के भाव विकसित होते हैं। उसके विचारों में उग्रता नहीं होने से वह शांति से अपना कार्य संयोजित करता है। क्रोध की उग्रता से विचारों में संतुलन नहीं रह पाता। परिणामतः विचार और चिंतन असंतुलित हो जाते हैं। मन का तीसरा तत्त्व है—कल्पना। भविष्य के संदर्भ में जब वह कल्पना करता है तब उसकी कल्पना श्रेष्ठ नहीं रह सकती और जब कल्पना का चित्र ही श्रेष्ठ नहीं होगा, तब वह सही योजना कैसे बना पाएगा? सही योजना के बिना किस तरह कोई सफल हो सकता है?

असंतुलित मन, क्रोधी तन और आवेशयुक्त वृत्ति का परिणाम है—अशांत चित्त। अशांत चित्त से समस्याएं पैदा होती हैं। ऐसा व्यक्ति किसी से भी प्रीति नहीं रख सकता है। भगवान महावीर का यह वाक्य यथार्थ है—'कोहं पीयं पणासेई'—क्रोध प्रीति का नाश कर देता है। क्रोध केवल प्रीति का ही नाश नहीं करता है, वह हृदय रोग, तनाव, हत्या और शत्रुता जैसे दुर्गुणों को भी आमंत्रित करता है। क्रोध को शांत करने का सरल उपाय है—उपशांत-भाव। इसलिए भगवान महावीर ने कहा—'उवसमेण हणं कोहं।

कषाय का दूसरा विष-बीज है—अहंकार। अहं से केवल घमंड ही पैदा नहीं होता है, वह विनम्रता और विनय का भी नाश करता है। अहंकारी व्यक्ति अपने-आप को अधिक महत्त्व देता है। वह दूसरों को सम्मानित नहीं कर सकता है। कोई दूसरों का सम्मान भी करे तो वह उससे सहन नहीं हो पाता। अहंकार को मृदु भावों से जीता जा सकता है। व्यक्ति कितना ही बड़ा बन जाए, जब तक वीतराग नहीं बनता है तब तक वह पूर्ण नहीं बन सकता है। इसलिए भगवान महावीर ने अपने अमृत वचन में कहा 'माणं मद्दावया जिणे'। मान और अहंकार पर्यायवाची शब्द हैं। मान को मृदु भाव से विलोपित किया जा सकता है।

माया ऐसा कुटिलतापूर्ण व्यवहार है जिसमें व्यक्ति नहीं चाहते हुए भी स्वयं फंसता और दूसरों को फंसाने की भी कोशिश करता है।

मायाचार से आपसी अविश्वास पैदा हो जाता है। अविश्वास मित्रता को नष्ट कर देता है।

कषाय का चौथा तत्त्व है—लोभ। 'लोहो सव्व विणासणो'—लोभ सब-कुछ विनाश करने वाला है। इसलिए लोभ को पाप का बाप कहा गया। लालच बुरी बला है। जिसके मस्तिष्क में लोभ के 'वायरस' घुस जाते हैं, वह व्यक्ति अकरणीय कार्य भी करने में संकोच नहीं करता है।

इच्छा को आकाश के समान अनंत कहा गया है। एक इच्छा पूरी नहीं होती है कि दूसरी उत्पन्न हो जाती है। दूसरी से तीसरी। इस तरह इच्छाओं का दबाव इतना बढ़ने लगता है कि व्यक्ति तनाव से भर जाता है।

लोभ ऐसा दुर्गुण है, जिसमें व्यक्ति एक बार फंस जाए तो उससे बाहर निकलना उसके वश की बात नहीं रहती।

कषाय का कोई अंग किसी से कम नहीं। एक ही इतना खतरनाक होता है, तो जब चारों एक साथ मिलकर किसी पर आक्रमण करते हैं, तब तो जो होना होता है वही होकर रहता है। इसलिए कषाय-संतुलन आवश्यक है। यही स्वास्थ्य का आधार बनता है, साथ ही श्रेष्ठ व्यक्तित्व का निर्माण भी करता है।

कषाय-संतुलन का विकास करने के लिए चेतना को जाग्रत करना पड़ता है। ऐसा करने के लिए योग तथा प्रेक्षाध्यान का प्रशिक्षण और प्रयोग करने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर व्यक्ति के मस्तिष्क से कषायों या विकारों का अंत हो सकता है, तभी व्यक्ति की चित्त-शुद्धि का मार्ग प्रशस्त होगा। ❖

इस बात का कोई महत्त्व नहीं कि मनुष्य मरता किस प्रकार है, अपितु महत्त्व की बात तो यह है कि वह जीवित किस प्रकार रहता है।

—हजरत अली

मनुष्य बाहरी दुनिया में दौड़ता रहता है, भटकता रहता है। वह भीतर झांकना, भीतर देखना पसंद नहीं करता। क्योंकि यह मनुष्य को प्राकृतिक देन है कि इंद्रियों के सभी द्वार बाहर की ओर ही खुलते हैं। जो व्यक्ति इंद्रियों के चलाए चलता है, उन्हें अपने वश में नहीं रखता—उस व्यक्ति को भगवान ने कछुए की उपमा से उपमित किया है। व्यक्ति विकास के नए आयाम खोलना चाहता है, शिखरों की ऊंचाई मापना चाहता है, लेकिन इंद्रियों को वश में रखना नहीं जानता है, तो वह कुछ नहीं कर सकता।

प्रतिनियतार्थ ग्रहणमिन्द्रियम्

साध्वी अनुशासनाश्री

हमारा जगत द्वंद्वात्मक है। जड़ और चेतन का योग और उसका विस्तार ही संसार है। चेतन तत्त्व की पहचान है—ज्ञानात्मक और दर्शनात्मक स्पंदन। जिस द्रव्य में ज्ञान और दर्शन के स्पंदन नहीं होते, वह जड़ है। इसी तरह जिस द्रव्य में ज्ञान व दर्शन के स्पंदन होते हैं—वह चेतन है।

ज्ञान के दो प्रकार हैं—प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान। इंद्रिय और मन से निरपेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। इंद्रिय और मन के माध्यम से जो ज्ञान किया जाता है, वह परोक्ष ज्ञान कहलाता है। इन्हें आत्म-प्रत्यक्ष और इंद्रिय-प्रत्यक्ष भी कहा जाता है।

आत्म-प्रत्यक्ष की भूमिका तक पहुंचने वाले प्राणी विरल होते हैं। सामान्यतः प्रत्यक्ष संसारी प्राणी इंद्रिय-प्रत्यक्ष या इंद्रियों के माध्यम से ही ज्ञान प्राप्त करते हैं।

इंद्रिय किसे कहते हैं? अन्यान्य दार्शनिकों का इस संबंध में क्या अभिमत रहा है? यह जानना अत्यंत आवश्यक है।

इंद्रिय

जीव और अजीव का विभाजक तत्त्व है—इंद्रिय। प्रत्येक प्राणी असीम ऐश्वर्यसंपन्न होता है। अतः उसे इंद्र कहा जाता है। इंद्र का लिंग-चिह्न इंद्रिय कहलाता है। जिस प्रकार इंद्र ऐश्वर्य का स्वतंत्र रूप से अनुभव करते हैं, उसी प्रकार इंद्रियां भी इंद्रिय विषयों में स्वतंत्र व्यापार करती हैं, यानी इंद्रियां अपने विषयों का स्वतंत्र स्वामित्व स्वीकार करने के कारण ही इंद्रियां कहलाती हैं।

चेतना के विकास का प्राथमिक स्तर इंद्रिय है। प्रतिनियत और वर्तमान अर्थ को ग्रहण करने वाली चेतना का नाम है इंद्रिय।

आचार्य तुलसी ने कहा—'प्रतिनियतार्थ ग्रहणमिन्द्रियम्'—जिनके द्वारा अपने-अपने नियत विषयों का जो ज्ञान होता है वह इंद्रिय है।

इंद्रियलिंगम्—इंद्र का लिंग, ज्ञापक, बोधक है—वह इंद्रिय है। इंद्रदृष्टम्—इंद्र से अपने-अपने कार्यों में जो अज्ञप्त है—वह इंद्रिय है।

इंद्रसृष्टम्—इंद्र से जो सृष्ट है, वह इंद्रिय है।

इंद्रजुष्टम्—जो इंद्र से सेवित है, वह इंद्रिय है।

यहां इंद्र शब्द जीवात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। जीवात्मा के सूचन से, उसके प्रदर्शन से, उपष्टंभ करने से, व्यक्त करने से ये इंद्रिय कहलाते हैं।

वृत्तिकार इंद्रिय के विषय में लिखते हैं—'इन्दनादिन्द्र-आत्मासर्वद्र व्योपलब्धिरूप परमैश्वर्य योगात्। तस्य लिंग-चिह्नम-विनाशावि इंद्रियम्'—अर्थात् आत्मा सभी द्रव्यों की उपलब्धि रूप ऐश्वर्य से संपन्न होती है। इसलिए वह इंद्र है और जो इंद्र का अविनाशी चिह्न है, वह इंद्रिय है।

'इंद्रो इयर्ति अनेनेति इंद्रियम्'—जिसके द्वारा इंद्र या जीव जाना जाता है, अथवा जानता है—वह इंद्रिय है।

इस प्रकार व्यक्ति जो-कुछ भी जानता, देखता है वह सब इंद्रियों के माध्यम से ही जानता, देखता है। प्रत्येक व्यक्ति के पास पांच इंद्रिय, मन और बुद्धि विद्यमान रहती हैं। जिसके द्वारा जाना जाता है या जानना जिसका कार्य है, वह इंद्रिय है। इंद्रियों के द्वारा जो संचित किया जाता है, जो कार्य किया जाता है या जाना जाता है, उन सबके आधार पर अपना कार्य संचालित करने वाला मन है। उससे आगे मन के द्वारा जो-कुछ भी निर्णय लिया जाता है, जो कार्य किया जाता है—वह बुद्धि का काम है।

जानने का सबसे पहला और प्रमुख स्रोत है—इंद्रियां। प्रत्येक प्राणी के शरीर में कुछ ऐसे चुंबकीय क्षेत्र बने हुए हैं, जिनके सहारे व्यक्ति बाह्य जगत के साथ सीधा संबंध स्थापित कर सकता है। वे चुंबकीय क्षेत्र हैं, हमारी पांचों इंद्रियां।

स्पर्शेंद्रिय

हमारा सबसे प्रमुख व पहला चुंबकीय क्षेत्र है—स्पर्शेंद्रिय। यह चैतन्य की रश्मियों के प्रस्फुटन की पहली खिड़की है। चेतना का जो स्पर्श संवेदी विकास है, वह स्पर्शेंद्रिय है। यह शरीर की त्वचागत है, इसलिए पूरे शरीर में व्याप्त है। इस इंद्रिय के द्वारा प्राणी छूकर पदार्थ का ज्ञान करता है। इसलिए कहा गया है—'कायस्स कासं गहणं वयंति।' इस इंद्रिय का आभ्यंतर आकार नहीं होता, केवल बाह्य आकार ही होता है। जो हमें सबका अलग-अलग दिखाई देता है।

शरीर विज्ञानी कहते हैं कि हमारे शरीर की त्वचा में 40 लाख स्पर्शसंवेदी कोशाएं हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति पदार्थों की स्निग्धता, रूक्षता, कोमलता, कठोरता आदि अनेक विषयों की जानकारी प्राप्त करते हैं।

रसनेंद्रिय

हमारी चेतना का दूसरा चुंबकीय क्षेत्र है—रसनेंद्रिय। चेतना का रस-संवेदी विकास ही रसनेंद्रिय कहलाता है। इस इंद्रिय का काम है पदार्थ को चखना, पदार्थ का स्वाद लेना। आगम में कहा है—'जिहाए रसं गहणं वयंति'— जीभ उस को ग्रहण करती है। जीभ की बाह्य रचना प्रत्येक प्राणी की अपनी-अपनी होती है, किंतु आभ्यंतर आकार-रचना सब जीवों की चंद्रिका या लौहार की धौंकनी जैसी होती है।

इस इंद्रिय में भोजन का स्वाद लेने की, स्वाद जानने की भरपूर क्षमता है। वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया कि इसमें नौ हजार स्वाद-कलिकाएं होती हैं। जब ये सभी स्वाद-कलिकाएं जाग्रत हो जाती हैं तो रसना (रसनेंद्रिय) सभी खाद्य वस्तुओं के स्वाद और रसों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण कर देती है।

जैन साहित्य में एक नहीं, ऐसे अनेक घटना-प्रसंग हैं कि जिनसे यह सिद्ध होता है कि व्यक्ति किसी एक पदार्थ को चखकर उसमें से सौ से अधिक द्रव्यों का विश्लेषण कर सकता है। आचार्य पादलिप्त एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं, जिनके पास एक ऐसी विद्या थी, जिसका प्रयोग कर वे आकाश मार्ग में यात्रा कर सकते थे। एक बार उनके एक प्रिय शिष्य के मन में चाह जगी कि मैं भी आकाश मार्ग में यात्रा करूं। पर, करूं कैसे? उसने देखा कि आचार्यश्री पांव में एक विशेष प्रकार के लेप का प्रयोग करते हैं, और फिर वे आकाशगमन करते हैं। वह शिष्य रसना के स्वाद-ज्ञान में पटु था। उसने आचार्य के चरण धोए। उस चरणामृत को चखा। उसमें निहित 307 द्रव्यों का उसने विश्लेषण कर लिया। सब द्रव्यों को इकट्ठा किया, उन्हें मिलाया, पांव पर लेप किया और आकाश में उड़ने की कोशिश करने लगा। पक्षी के बच्चे की भांति थोड़ा उड़ता, फिर गिर जाता। किंतु, आकाशगमन में वह सफल नहीं हो सका। अंत में स्वयं आचार्य ने बताया कि इसमें एक द्रव्य के मिश्रण की कमी है। उसकी पूर्ति हुई और वह शिष्य भी आकाशगमन करने में सफल हो गया।

घ्राणेंद्रिय

प्राणधारा का तीसरा चुंबकीय क्षेत्र है—घ्राणेंद्रिय। 'घाणस्सगंधं गहणं वयंति'—अर्थात् घ्राण के द्वारा गंध का ज्ञान होता है। घ्राणेंद्रिय की बाह्य रचना प्रत्येक प्राणी की अपनी-अपनी होती है, परंतु घ्राणेंद्रिय की आभ्यंतर रचना अतिमुक्तक फूल जैसी ही होती है।

हमारी घ्राणेंद्रिय एक अद्भुत शक्ति का खजाना है, पुंज है। हमारे शरीर से एक विशेष प्रकार की गंध निकलती है। जिसके आधार पर हमारे व्यक्तित्व की पहचान हो सकती है। सिर्फ मनुष्य की ही नहीं, पशुओं की घ्राणेंद्रिय भी बहुत काम की होती है। एक खोजी कुत्ते ने अपनी घ्राणेंद्रिय के आधार पर अपराधियों को, चोरों को पकड़ने में काफी हद तक सफलता प्राप्त की है।

चक्षुरिंद्रिय

हमारी संवेदना का चौथा चुंबकीय क्षेत्र है—चक्षुरिंद्रिय। 'चक्खुरस रुवं गहणं वयंति'—यानी आंख रूप को देखने का काम करती है। आंख की बाह्य रचना सभी प्राणियों की अलग-अलग होती है। किंतु, आभ्यंतर आंख की रचना सभी की चंद्रमा के समान या मसूर की दाल के समान होती है।

चक्षुरिंद्रिय के द्वारा व्यक्ति बाहरी पदार्थों को, बाहरी वस्तुओं को, अथवा दूसरों को ही देखता रहता है। जब उसे खुद को देखना होता है, उस समय वह अपनी आकृति, प्रकृति से अनजान होता है। वह संसार-भर की वस्तुओं को देख सकता है, लेकिन जब व्यक्ति को खुद का, स्वयं का चेहरा देखना होगा उस समय उसके सामने दर्पण की आवश्यकता होती है। जब दर्पण व्यक्ति के सामने होगा तभी उसे अपना रूप दिखाई देगा।

आंख को मन का दर्पण कहा है। वैज्ञानिकों ने आज यह सिद्ध कर दिया कि आंख एक ऐसा दर्पण है, जिसमें सत्य एवं झूठ असंदिग्ध रूप से प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। यहां तक कि किसी पकवान से लेकर किसी महान चित्रकार की कलाकृति तक के विषय में हमारे मन की प्रतिक्रिया हमारी आंखों में स्पष्टतः झलक उठती है।

श्रोत्रेंद्रिय

शरीर का पांचवां और अंतिम चुंबकीय क्षेत्र है—श्रोत्रेंद्रिय। चेतना का श्रवण-संवेदी विकास ही श्रोत्रेंद्रिय कहलाता है। 'सोयस्स स्द्दं गहणं वयंति'—कान शब्द को ग्रहण करता है। प्रत्येक प्राणी के कान की बाह्य आकार-रचना अपनी-अपनी होती है। परंतु, आभ्यंतर आधार-रचना सब जीवों की एक जैसी होती है। जैसे कदंब का फूल होता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी के कान का आभ्यंतर आकार होता है।

कान में वह शक्ति है जो ध्वनि को सुन सकती है, शब्द को सुन सकती है। वैज्ञानिकों ने शोध के द्वारा यह जानकारी प्राप्त की है कि ध्वनि/शब्द का प्रभाव मनुष्य के रक्त-संचरण एवं तंत्रिका-तंत्र पर भी पड़ता है। उनका कहना है कि मनुष्य ध्वनि को 45 डेसीबल तक आसानी से सहन कर सकता है। 80 से 85 डेसीबल तक की ध्वनि मनुष्य को गंभीर हानि पहुंचा सकती है। और 150 डेसीबल तक की ध्वनि तो मनुष्य को पूरा बहरा ही बना सकती है।

मनुष्य बाहरी दुनिया में दौड़ता रहता है, भटकता रहता है। वह भीतर झांकना, भीतर देखना पसंद नहीं करता। क्योंकि यह मनुष्य को प्राकृतिक देन है कि इंद्रियों के सभी द्वार बाहर को ओर ही खुलते हैं। जो व्यक्ति इंद्रियों के चलाए चलता है, उन्हें अपने वश में नहीं रखता—उस व्यक्ति को भगवान ने कछुए की उपमा से उपमित किया है। व्यक्ति विकास के नए आयाम खोलना चाहता है, शिखरों की ऊंचाई मापना चाहता है, लेकिन इंद्रियों को वश में रखना नहीं जानता है, तो वह कुछ नहीं कर सकता।

गणाधिपति श्री तुलसी ने ठीक ही कहा है—लक्ष्य तुम्हारा अति ऊंचा है, मत बनना पुद्‌गल आसक्त। संचित कर्म खपाना ही है, इस शरीर धारण का लक्ष्य।

अगर हमने अपना लक्ष्य ऊंचा बनाया है कि वीतराग पद प्राप्त करना है तो हमें थोड़ा भीतर झांकना होगा। गहराई में उतरना होगा, तभी हम अपनी लक्षित मंजिल आसानी से प्राप्त कर सकते हैं।

कठोपनिषद् प्रथम वल्ली के द्वितीय अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं, और कहते हैं कि—

हे अर्जुन!

परांचि खानि व्यतृणत्
स्पयंम्स्तस्मात्परांगपश्यति नान्तरात्मा।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्यानमैक्ष
दावृत्तचक्षुरमृतत्तव मिच्छन।।

स्वयं प्रकट होने वाले परमेश्वर ने भी इंद्रियों के द्वार बाहर की ओर जाने वाले ही बनाए हैं। इसीलिए मनुष्य इंद्रियों के द्वारा प्रायः बाहर ही भटकता रहता है। वह कभी अंतरात्मा में नहीं झांकता।

किसी भाग्यशाली बुद्धिमान व्यक्ति ने ही अमरपद को पाने की इच्छा से चक्षु आदि इंद्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अंतरात्मा की ओर जाने का, अपने भीतर झांकने का प्रयास किया है। अंतर्यामी परमात्मा को पाने की जिंसने इच्छा प्रकट की है, उसने इंद्रियों को अपने वश में रख लेने का संकल्प कर लिया है—यह मानना चाहिए। ❖

'सूरज ने मुझे गुलदाउदी देते समय आपसे हुई बातचीत के विषय में बताया। आपको नहीं मालूम शास्त्रीजी, उस लड़के पर आपकी बातों का इतना असर हुआ कि उसने पैसे लेने से भी इनकार कर दिया और वहां से चला गया। मैं...मैं अपने किए पर बहुत शर्मिंदा हूं। मुझे भी पौधों से बहुत प्यार है। मेरा भी अधिकांश पैसा अपने बगीचे के रखरखाव में खर्च होता है। बगीचे का हर काम मैं स्वयं करता हूं। मेरी पत्नी कहती है कि मैं उससे ज्यादा अपने बगीचे से प्यार करता हूं। फिर भी...इनाम पाने के लालच और नाम पाने की इच्छा ने मुझे अंधा बना दिया था। इसी कारण से मैंने आपका बगीचा नष्ट कर डाला, और उन्हीं पौधों को मार डाला जो मेरे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण थे। मुझे...मुझे बहुत दुख हो रहा है।' हरदयाल का सिर शर्म से झुक गया था।

डाहलिया और गुलदाउदी

रमेन्द्रकुमार

शास्त्रीजी ने सुबह उठकर सामने का दरवाजा खोला और अपने बगीचे में चल दिए। रोज की तरह आज भी उसी जगह पहुंचे जो बगीचे में उन्हें सबसे प्यारी थी, यानी उनकी छोटी-सी पौधशाला। बगीचे के एक कोने में बनी इस पौधशाला में पहुंचते ही वे ठिठक कर खड़े रह गए। आज तो वहां एक भी पौधा नहीं था! कल रात तक तो बगीचे के इस हिस्से में हर रंग और आकार के डाहलिया के फूल थे, लेकिन इस समय वह स्थान बिलकुल खाली था! वहां की मिट्टी खुदी पड़ी थी।

शास्त्रीजी यह सब सूनी आंखों से देखते रहे और फिर दोनों हाथों से सिर पकड़कर बैठ गए। लगता था जैसे किसी बदमाश ने पौधों को जड़ से उखाड़ डाला है। लेकिन, वह कौन हो सकता है?

5 जून
विश्व पर्यावरण दिवस
के अवसर पर

शिवशंकर शास्त्री एक सेवानिवृत्त अध्यापक थे। हैदराबाद से कुछ दूर बसी अंबेडकर कालोनी के किनारे एक छोटे-से घर में वे अकेले रहते थे। उनकी पत्नी का देहांत हो चुका था। उनके कोई संतान नहीं थी।

जीवन में शास्त्रीजी के दो ही शौक थे— अध्यापन और बागवानी। इन दोनों में से उन्हें कौन ज्यादा प्रिय था, यह बता पाना मुश्किल था। स्कूल से सेवानिवृत्त होने पर उन्होंने पढ़ाना कम कर दिया था और अब वे बागवानी ही ज्यादा करते थे। अंबेडकर कालोनी के निवासियों के अनुरोध पर वे आस-पास के बच्चों को अब भी पढ़ा दिया करते थे। बच्चों को पढ़ाने के बदले पैसे लेने के वे सख्त विरोधी थे। 'मैं तो अपनी खुशी के लिए पढ़ाता हूं, पैसे के लिए नहीं,' वे कहा करते थे।

जब कभी किसी समाचार-पत्र या पत्रिका में वे किसी दुर्लभ पौधे के विषय में पढ़ लेते तो उसे अपने बगीचे के लिए जरूर तलाश करते।

'अमनदीप, तुम्हारे पिताजी अकसर चेन्नई जाते रहते हैं। क्या उनसे मेरे लिए इस पौधे को लाने के लिए

कह सकते हो?' और फिर शास्त्रीजी कोई ऐसा नाम बोलते जिसका उच्चारण भी कठिन होता, 'यह पौधा हैदराबाद में नहीं मिलता।' शास्त्रीजी की इच्छा उनके शिष्यों के माता-पिता द्वारा अधिकतर पूरी कर दी जाती थी। आखिरकार यही तो एक गुरुदक्षिणा थी जिसे शास्त्रीजी स्वीकार कर लेते थे।

बागवानी पहले शास्त्रीजी का सिर्फ एक शौक हुआ करता था, पर सेवानिवृत्ति के बाद यह उनका जुनून बन गया था। अपना सारा दिन वे बगीचे में ही व्यतीत करते। अपने पौधों की देखभाल वे बच्चों की तरह ही करते थे। बहुत प्यार से उन्हें बड़ा करते। बगीचे में घूमते-घूमते वे पौधों से बातें करते और उन्हें गाना भी सुनाते।

'संगीत का असर पौधों पर भी होता है। कुछ साल पहले मैंने एक गमले में टमाटर उगाने शुरू किए। जब भी रेडियो पर बिस्मिल्ला खान की शहनाई बजती, मैं उस गमले को लेकर रेडियो के सामने बैठ जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि उस इकलौते पौधे से ही सात किलो टमाटर पैदा हुए।' शास्त्रीजी बड़े गर्व से अपने शिष्यों को बताते।

हालांकि शास्त्रीजी को बगीचे के सभी फूल पसंद थे, किंतु डाहलिया और गुलदाउदी से उन्हें कुछ अधिक ही लगाव था। प्रत्येक वर्ष अंबेडकर कालोनी के 'युवा क्लब' द्वारा एक उद्यान प्रतियोगिता आयोजित की जाती थी। पिछले तीन वर्षों से 'डाहलिया व गुलदाउदी' वर्ग में शास्त्रीजी को ही प्रथम पुरस्कार मिल रहा था। इस वर्ष प्रतियोगिता के आयोजन में केवल दो सप्ताह बचे थे। शास्त्रीजी को लगने लगा कि इतने कम समय में इस बार प्रतियोगिता में शामिल हो पाना संभव नहीं हो पाएगा।

उन्होंने गुलदाउदी की दो कतारों की ओर देखा। ईश्वर की कृपा थी कि बदमाश ने उनको हाथ तक नहीं लगाया था।

उस दिन शास्त्रीजी अत्यंत उदास थे। उन्होंने उस दिन बच्चों को पढ़ाया भी नहीं। उन्हें ऐसा लग रहा था, मानों उनके किसी प्रियजन की मृत्यु हो गई हो। वे रात-भर सो नहीं पाए। बहुत देर तक बिस्तर में करवटें बदलते रहे और फिर उनकी आंख लग गई।

अचानक वे नींद से उठ बैठे। उन्होंने चारों ओर देखा और फिर उठकर धीरे से खिड़की का परदा हटा दिया। सूरज की पहली किरण अभी आकाश में उदित ही हुई थी। अभी उनकी नजर बाहर गई ही थी कि उन्होंने एक छोटे-से लड़के को सामने वाले गेट पर चढ़ते और अपने बगीचे की ओर जाते देखा। शास्त्रीजी ने अपनी चादर उठाई और पीछे का दरवाजा खोलकर दबे-पांव घर से बाहर हो लिए। उन्होंने घर का एक चक्कर लगाया और फिर धीरे-से अपना सिर बाहर निकाला। वह लड़का झुककर गुलदाउदी के पौधे उखाड़ रहा था।

शास्त्रीजी तेजी से आगे बढ़े और उन्होंने लड़के का कॉलर पकड़कर उसे अपनी तरफ घुमा लिया। 'बदमाश लड़के! यह तुम क्या कर रहे हो?'

आश्चर्य और डर से लड़के की आंखें फैल गईं। 'मैं...मैं...' वह हकलाने लगा और कुछ बोल न सका। लड़का करीब बारह साल का था—बहुत ही दुबला-पतला, बड़ी-बड़ी आंखों वाला। उसके कान बड़े-बड़े थे। उसके बदन पर एक बेहद फटी हुई कमीज थी और उसके नाप से कहीं ज्यादा बड़ा एक हाफपेंट था। वह नंगे पैर था।

'मेरे साथ आओ!' शास्त्रीजी बोले और उसका हाथ पकड़कर उसे अंदर ले गए। वे बैठ गए और लड़का कांपता हुआ एक कोने में खड़ा रहा। वह ठंड से कांप रहा था या डर से, यह बता पाना मुश्किल था।

'अब बताओ, तुम क्या कर रहे थे?'

'साहब, मुझे पौधे उखाड़ने के लिए भेजा गया था और...'

'तो इसका मतलब कल तुम्हीं ने मेरे डाहलिया के फूलों को बरबाद किया था?' शास्त्रीजी चिल्ला पड़े। गुस्से से उनकी आंखें लाल हो गईं।

'हां...हां, साहब,' लड़के ने शर्म से सिर झुकाते हुए कहा।

'लेकिन यह अपराध करने के लिए तुम्हें भेजा किसने है?'

'मैं...मैं यह आपको नहीं बता सकता, साहब, वह मुझे मार डालेगा।'

'उसने तुमसे क्या कहा था?'

'उसने मुझे डाहलिया उखाड़ने के लिए कहा था और गुलदाउदी भी।'

'गुलदाउदी!'

'हां साहब, यही कहा था। उसने इन्हें उखाड़ने के लिए कहा था। लेकिन, कल जैसे ही मैंने डाहलिया उखाड़ लिए, मुझे कुछ आवाज सुनाई दी और मैं तुरंत यहां से भाग गया। मैंने उसे डाहलिया दिए पर वह मेरे ऊपर चिल्लाने लगा। इसलिए मुझे आज सुबह फिर से आना पड़ा।'

'क्या उसने तुम्हें इस काम के लिए पैसे दिए हैं?'

'नहीं साहब, उसने कहा कि मैंने अधूरा काम किया है। जब मैं गुलदाउदी भी उसको ले जाकर दूंगा, तभी वह मुझे तीस रुपए देगा।'

शास्त्रीजी चुप थे। उनका गुस्सा गायब हो चुका था। अब उन्हें इस कांपते हुए, लाचार बालक पर दया आ रही थी।

'बेटे, तुम्हारा नाम क्या है?'

पहले वह लड़का हिचकिचाया, फिर शास्त्रीजी के दयालु चेहरे को देखकर बोला, 'सूरज।'

'सूरज, मैं तुम्हें सजा अवश्य देना चाहता हूं, किंतु अब लगता है कि सारा दोष सिर्फ तुम्हारा नहीं है। असली अपराधी तो वह बदमाश है जिसने तुम्हें भेजा है। सच पूछो तो, मुझे उस पर बहुत गुस्सा आ रहा है।' वे एक पल के लिए रुके और सूरज की ओर ध्यानपूर्वक देखते हुए बोले, 'सूरज, यह मत सोचो कि मुझे गुस्सा इस बात पर आया कि मेरे बगीचे की शोभा नष्ट हो गई है। यह ठीक है कि मुझे इस बात का खेद है, किंतु दुर्भाग्य की बात कुछ और है। इन डाहलिया के पौधों को जड़ से उखाड़कर तुमने इन्हें मार डाला है। काश, तुमने इनसे अधिक मजबूत, गुलाब जैसे पौधों को चुना होता! उन्हें तुम ले जाकर किसी और बगीचे में लगा भी सकते थे। वे फिर से पनप भी जाते। किंतु डाहलिया बहुत ही कोमल होते हैं। अगर इन्हें एक जगह से हटाकर दूसरी जगह लगाना भी पड़ जाए तो यह काम बहुत ही सावधानी से करना पड़ता है। इनकी जड़ों के चारों ओर की मिट्टी को पहले खोदकर ढीला करना पड़ता है और फिर बहुत धीरे से इन्हें निकाला जाता है। जिस तरह से तुमने इन्हें उखाड़ा है, मुझे नहीं लगता कि ये पौधे अब फिर जीवित हो पाएंगे। ठीक यही खतरा उन थोड़े-से गुलदाउदी के पौधों को भी है, जिन्हें थोड़ी देर पहले तुमने उखाड़ा है। सूरज, जो पौधे हमें इतना-कुछ देते हैं, वह भी बिना किसी स्वार्थ के, उन्हें मारना किसी मासूम बच्चे की हत्या करने के बराबर है। और जिसने भी तुम्हें भेजा है, वह हत्या का अपराधी है।'

शास्त्रीजी उठे और सूरज की पीठ थपथपाते हुए बोले, 'जाने से पहले गुलदाउदी के जो पौधे तुमने उखाड़े हैं, साथ लेते जाना। हालांकि ये तुम्हें भेजने वाले के बगीचे में पनप तो नहीं पाएंगे, लेकिन तुम्हें तीस रुपए अवश्य दिला देंगे।'

× × ×

अगली सुबह जिस समय शास्त्रीजी अपने बगीचे में काम कर रहे थे, तभी उन्हें कोई आवाज सुनाई दी। उन्होंने पीछे मुड़कर देखा। एक आदमी कुंडी खोलकर बगीचे में प्रवेश कर रहा था। शास्त्रीजी को उसका चेहरा कुछ पहचाना-सा लगा। जब वह पास पहुंचा तो शास्त्रीजी ने उसे पहचान लिया। यह तो हरदयाल था, जिसकी अंबेडकर कालोनी के ठीक सामने वाली सड़क पर स्टेशनरी की दुकान थी।

शास्त्रीजी उसे देखकर उठे, उनके हाथ मिट्टी से सने थे।

'शास्त्रीजी, नमस्ते।'

'नमस्ते, भई।'

'मुझे...मुझे समझ नहीं आ रहा कि क्या कहूं!' हरदयाल ने शास्त्रीजी की ओर देखा और फिर रुक गया।

शास्त्रीजी धैर्यपूर्वक उसके आगे बोलने की प्रतीक्षा करने लगे।

'मैंने...ही...सूरज को...'

शास्त्रीजी अचंभित रह गए।

'लेकिन क्यों?'

'मैं पिछले तीन वर्षों से उद्यान प्रतियोगिता के 'डाहलिया व गुलदाउदी' वर्ग में जीतने की कोशिश कर रहा था, किंतु हर बार आप मुझे हरा देते थे। पिछले वर्ष मैंने अपनी जीत के लिए एक हजार रुपए की शर्त भी लगा ली थी। इस वर्ष मैं निश्चित कर लेना चाहता था कि मैं आपसे न हारूं।'

'लेकिन अब तुम यहां क्यों आए हो? तुम्हारा उद्देश्य तो पूरा होने वाला है। मैं तो इस प्रतियोगिता में भाग ही नहीं ले पाऊंगा।'

'सूरज ने मुझे गुलदाउदी देते समय आपसे हुई बातचीत के विषय में बताया। आपको नहीं मालूम शास्त्रीजी, उस लड़के पर आपकी बातों का इतना असर हुआ कि उसने पैसे लेने से भी इनकार कर दिया और वहां से चला गया। मैं...मैं अपने किए पर बहुत शर्मिंदा हूं। मुझे भी पौधों से बहुत प्यार है। मेरा भी अधिकांश पैसा अपने बगीचे के रखरखाव में खर्च होता है। बगीचे का हर काम मैं स्वयं करता हूं। मेरी पत्नी कहती है कि मैं उससे ज्यादा अपने बगीचे से प्यार करता हूं। फिर भी...इनाम पाने के लालच और नाम पाने की इच्छा ने मुझे अंधा बना दिया था। इसी कारण से मैंने आपका बगीचा नष्ट कर डाला, और उन्हीं पौधों को मार डाला जो मेरे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण थे। मुझे...मुझे बहुत दुख हो रहा है।' हरदयाल का सिर शर्म से झुक गया था।

शास्त्रीजी हरदयाल के पास आए और उसके कंधे पर हाथ रखकर बोले, 'हरदयाल! अपनी भूल को स्वीकार करने के लिए बहुत साहस की आवश्यकता होती है। तुम्हें अपनी गलती पर स्वयं पश्चात्ताप हो रहा है, बस, यही मेरे लिए काफी है। मुझे पूरा विश्वास है कि तुम भविष्य में ऐसा काम दुबारा नहीं करोगे। आओ, मैं तुम्हें कुछ पौधे दिखाता हूं, जो मैं विजयवाड़ा से लाया था...।'

× × ×

अंबेडकर कालोनी के युवा क्लब द्वारा आयोजित उद्यान प्रतियोगिता के 'डाहलिया व गुलदाउदी' वर्ग में इस बार हरदयाल को प्रथम पुरस्कार मिला। इस प्रतियोगिता के निर्णायक थे—आचार्य शिवशंकर शास्त्री। ❖

सज्झायम्मि रओ सया पृष्ठ 39 का शेष

कि सभी साधु-साध्वियां आगम गाथाओं का ऐसा शुद्ध, स्पष्ट एवं लयबद्ध उच्चारण करें कि स्वयं तो उसमें आत्मलीन बनें हीं, साथ ही सुनने वाला भी आत्मानंद के सागर में निमज्जन करने लगे।'

पूज्य गुरुदेव की तीव्र तड़प थी कि साधु-साध्वियां अधिक-से-अधिक आगम-ग्रंथों को कंठाग्र करें। उनका मानना था कि साधना के क्षेत्र में प्रगति करने की चाह वाले व्यक्ति का प्रथम सोपान आगम-स्वाध्याय है। इस सोपान पर आरोहण किए बिना कोई भी साधक साधना के प्रासाद पर नहीं पहुंच सकता।

दशवैकालिक सूत्र सीखने के लिए तो वे बार-बार प्रतिबोध देते रहते थे। जैसे अनेक शास्त्रों का पारगामी विद्वान होने पर भी यदि व्यक्ति व्याकरणमर्मज्ञ नहीं है, तो वह शब्द-मीमांसा की अवगति नहीं कर सकता, वैसे ही एक मुनि जब तक दशवैकालिक को नहीं जानता, वह अध्यात्म के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता। इसी प्रसंग में पूज्य गुरुदेव ने व्याकरण की महत्ता प्रकट करने वाला एक श्लोक बताया—

यद्यपि बहुनाधीषे, तथापि पठ पुत्र! व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत्, सकलं शकलं सकृच्छकृत्।।

फिर इसी श्लोक को कुछ रूपांतरण के साथ प्रस्तुत करते हुए दशवैकालिक सीखने की प्रेरणा देते हुए कहा—

यद्यपि बहुनाधीषे, तथापि पठ दसकालियं सुत्तं।
आचारोऽनाचारो, मा भूदध्यात्मविस्मृतिर्येन।।

प्रेरणा-स्रोतस्विनी को प्रवाहित रखते हुए वे कहा करते—'दशवैकालिक अध्यात्म का ऐसा व्यावहारिक ग्रंथ है, जिसमें मुनि-चर्या की सभी प्रारंभिक बातों का ज्ञान हो

जाता है। यदि आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़े तो चिंतन और व्यवहार में गंभीरता आए बिना नहीं रहेगी।'

स्वाध्याय की रुचि सबके मन में जाग्रत करने हेतु गुरुदेवश्री तुलसी स्वाध्याय के नए-नए उपक्रम उपस्थित करते रहते। एक बार लूणकरणसर प्रवास के दौरान फाल्गुन मास में रात्रिकालीन प्रार्थना करके वे भीतर पधारे। मकान का चौक काफी बड़ा था। शुक्लपक्ष की द्वादशी होने के कारण चंद्रमा की चांदनी चारों ओर छिटकी हुई थी। गुरुदेव के मन में स्वाध्याय का एक नया प्रयोग करनें की बात उभरी। उन्होंने सब संतों को पंक्तिबद्ध बैठने का निर्देश दिया। सब साधु छज्जे के नीचे बैठे गए। गुरुदेव ने सबको संबोधित करते हुए कहा—'आज मैं एक स्वाध्याय-शिविर का प्रयोग करना चाहता हूं। सब साधु स्वाध्याय करें और कम-से-कम एक हजार गाथाओं का स्वाध्याय किए बिना अपने स्थान से नहीं उठें। एक हजार से अधिक स्वाध्याय करने वाले को प्रत्येक सौ गाथा पर एक परिष्ठापन (कल्याणक) पारितोषिक रूप में दिया जाएगा।' फिर क्या था, स्वाध्याय समवेत भी चला और कुछ साधुओं ने अलग से भी स्वाध्याय करना प्रारंभ किया। स्वाध्याय से सारा वातावरण सरस बन गया। उस प्रतियोगिता में उनतीस साधु संभागी बने। उन्होंने पचास हजार गाथाओं का स्वाध्याय कर गुरुदेव से पारितोषिक प्राप्त किया। उस दिन स्वाध्याय में सभी संभागी संत अनिर्वचनीय आनंद में डुबकी लगाते रहे। यात्रा के दौरान ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। प्राकृतिक प्रकोप जैसी घटनाओं के समय तो समूचे परिपार्श्व को ही वे स्वाध्यायमय बना देते थे।

स्वाध्याय के लिए प्रेरणा देने की विविधता से भी लोगों का ध्यान आकृष्ट होता था। यही कारण होता कि कभी स्वाध्याय नहीं करने वाले व्यक्ति भी उनसे प्रेरणा पाकर स्वाध्यायी बन जाते। सन् 1961 के बीदासर चातुर्मास में प्रवचन के समय गुरुदेव ने स्वाध्याय के लिए कुछ कहा। उससे प्रभावित व्यक्तियों में पांच सौ पृष्ठों से लेकर दस हजार पृष्ठ तक पढ़ने का संकल्प लेने वाले भाई-बहिन भी थे। स्वाध्याय को अनुष्ठान का रूप देते हुए कहते—'तपस्या की भांति स्वाध्याय की भी पंचरंगी, सतरंगी और नवरंगी की जा सकती है। प्रथम दिन पांच व्यक्ति एक-एक मुहूर्त तक स्वाध्याय करें। वे ही व्यक्ति दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवें दिन क्रमशः दो, तीन, चार और पांच मुहूर्त तक स्वाध्याय करें। यह स्वाध्याय की पंचरंगी हो जाएगी।' गुरुदेव ने आगे फरमाया—'मेरा विश्वास है कि प्रतिदिन 'पढ़ो और पढ़ाओ', इस प्रेरणा को अभियान का रूप देकर आगे बढ़ाया जाए तो इसके सुंदर परिणाम सामने आ सकते हैं।'

गुरुदेवश्री तुलसी की ऐसी ही उत्प्रेरणाओं पर एक सुधी श्रावक कस्तूरचंद बांठिया ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा—'मैं मुक्तकंठ से स्वीकार करूंगा कि स्वाध्याय की प्रेरणा श्रद्धेय तुलसीगणी की मौलिक सूझ है। ज्ञान की वृद्धि के लिए अब तक के जैनाचार्यों में से किसी ने ऐसी प्रेरणा नहीं दी। बाह्य तप की प्रेरणा तो हर कोई देता है, जबकि आभ्यंतर तप के बिना बाह्य तप कायक्लेश मात्र रह जाता है। ऐसे स्वाध्याय की प्रेरणा के लिए मैं आचार्यश्री को अपनी श्रद्धा समर्पित करता हूं।'

कानपुर से कलकत्ता यात्रा के दौरान एक बार विहार में बारिश शुरू हो गई। जसीडीह गांव 12 मील दूर था। बारिश के दौरान कच्चे रास्ते में चलना कठिन हो जाता है। तब गुरुदेव ने बीच में ही एक गांव में छप्पर के नीचे आश्रय लिया और उसी समय गुरुदेव ने तात्त्विक प्रश्नों की गोष्ठी प्रारंभ कर दी। लगभग चौरासी मिनट तक प्रश्नोत्तर का क्रम चला, पर किसी को समय का भान ही नहीं रहा। ऐसे एक नहीं, सैकड़ों प्रसंग हैं जब स्थान की कमी या आंधी-बरसात के कारण रात्रि-जागरण हुआ, पर ऊंघते हुए नहीं, पूरी जागरूकता के साथ। अनेक बार वे अपने शिष्यों को प्रतिबोध देते हुए कहते थे—'यदि तुम सफल और सार्थक जीवन जीना चाहते हो तो वर्तमान को पहचानो, क्षण को समझो और स्वाध्याय-ध्यान से उस क्षण का भरपूर उपयोग करो। वर्तमान का क्षण बहुत कीमती है। यदि इसे खो दिया तो पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहेगा।'

स्वाध्याय चैतसिक निर्मलता बढ़ाने एवं अप्रमत्त जीवन जीने का महत्त्वपूर्ण साधन है। गुरुदेवश्री तुलसी ने दशवैकालिक सूत्र के **सज्झायम्मि रओ सया**—इस आदर्श को आत्मसात् किया। इसलिए कभी वे पठन रूप स्वाध्याय में लीन रहते तो कभी पाठन, वाचन और उद्बोधन रूप स्वाध्याय में। उनकी जाग्रत स्वाध्यायचेतना ने विकास के नए-नए आयाम उद्घाटित किए हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।

❖

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

धर्मचन्द्र भीखमचन्द्र पुगलिया

किरण देवी, सुशीला पुगलिया

श्रीडूंगरगढ़ - कोलकाता

ACHARYA SRI KAILASSAGARSURI GYANMANDIR
SRI MAHAVIR JAIN ARADHANA KENDRA
Koba, Gandhinagar-382 009.
Phone : (079) 23276252, 23276204-05

प्रेषण दिनांक 31 मई, 06 • Licensed to Post without Pre-Payment Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004
जैन भारती, जून, 2006 भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/06-08

With best compliments from :

THE KALYANI TEA CO. LTD.

**MAKERS OF FINEST QUALITY OF
GREEN / ORTHODOX / CTC
TEAS**

Head Office :

16, Bonfield Lane, KOLKATA 700001
Phone & Fax : (033) 2242-6141

Garden :

**Kenduguri Tea Estate
P.O. Rajgarh, Dist. Dibrugarh, Assam**
Phone : (03754) 276646 Fax : (03754) 276627